श्री पूज्यपाद आचार्य विरचित

समाधि तंत्र-इष्टोपदेश

श्री प्रभाचन्द्राचार्य विरचित समाधितंत्र की
तथा श्री पं० आशाधर जी रचित इष्टोपदेश
की संस्कृत टीका एवं अजितकुमार शास्त्री-कृत
हिन्दी भाषा टीका

श्री अकलंक देव-विरचित

स्वरूप-सम्बोधन

श्री विद्यावारिधि पं० खूबचन्द्र जी-कृत तथा
अज्ञातनामा टीकाकार कृत संस्कृत टीका एवं
अजितकुमार शास्त्री-कृत हिन्दी भाषा टीका

प्रकाशिका—

शान्तिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था

शान्तिवीर नगर, पो० श्रीमहावीरजी

प्रथमवार	कार्तिक शुक्ला पंचमी, सोमवार	मूल्य
२०००	वीर सं० २४९४ दि० ६।११।६७	२) ५०

आद्य वक्तव्य

जिस तरह जगत्वर्ती समस्त पदार्थों में आत्मा (जीव) का अनुपम महत्व है, उसी प्रकार आत्माके गुणोंमें सबसे अधिक महत्व ज्ञान गुण का है। ज्ञान आत्मा को नेत्र की तरह से प्रत्येक कार्य में पथ-प्रदर्शन करता है। ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है १- लौकिक, २-पारमार्थिक या आध्यात्मिक। सांसारिक विषयों के परिज्ञान के लिये आवश्यक बोध लौकिक ज्ञान है। भाषा, गणित (अंकगणित, रेखागणित, बीजगणित) इतिहास, भूमिज्ञान (भूगोल) आकाशीय ज्ञान (खगोल), विज्ञान-भौतिक. रसायन शारीरिक. मानसिक, आदि ज्ञान, विधिज्ञान (कानूनी जानकारी.) चिकित्सा-वैद्यक, डाक्टरी. सर्जरी-शरीरकी चीरफाड़ द्वारा चिकित्सा, खनिजज्ञान आदि लौकिकज्ञान हैं। २-आत्मा के उत्थान पतन, कर्म-बन्धन, कर्ममोचन आदिका परिज्ञान आध्यात्मिक या पारमार्थिक ज्ञान है।

लौकिक ज्ञान प्राप्त करने में मनुष्य यदि अपनी समस्त आयु समाप्त करदे तबभी वह समस्त विषयोंका आवश्यक साधारणज्ञाता भी नहीं बन सकता, विशेषज्ञ या पूर्णज्ञानी बनना तो बहुत दूरकी बात है। परन्तु आवश्यक आध्यात्मिक ज्ञान अल्प परिश्रम से थोड़े समय में प्राप्त किया जा सकता है। यदि सफल तपस्या द्वारा प्रयत्न किया जाता है तो ज्ञान के परदे (ज्ञानावरण कर्म) को छिन्न भिन्न करके सर्वज्ञ बना जा सकता है जिससे कि आत्मा समस्त लौकिक और आध्यात्मिक विषयों का परिपूर्ण ज्ञाता बन जाता है।

आध्यात्मिक ज्ञान आत्मा को शान्ति प्रदान करने का सरल एवं सच्चा साधन है। आज भौतिक युगमें अपार धन--संचय कर लेने

पर भी जो मनुष्य अतृप्त, असन्तुष्ट, व्याकुल, दुखी, चिन्तातुर दिखाई देता है, यूरोप, अमेरिका आदि महाद्वीपों एवं देशों के स्त्री पुरुष जो व्याकुल दिखाई दे रहे हैं उसका मूल कारण उनमें आध्यात्मिक ज्ञान की कमी है। अतः प्रत्येक स्त्री, पुरुषको अपना जीवन सुखी और शान्त बनाने के लिये आवश्यक--थोड़ा या वहुत आध्यात्मिक--आत्माका स्वरूप, ससारभ्रमण, कर्मबन्धन कर्ममोचन आत्मविकास आदि बातोंका-ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

आध्यात्मिक ज्ञान या तो संसार-विरक्त ऋषि मुनि साधुओं के सत्संग, उपदेश-श्रवण आदि से प्राप्त होता है, या अध्यात्मवेत्ता विद्वानों से पढकर प्राप्त किया जा सकता है। अथवा तीसरा सरल उपाय यह है कि आध्यात्मिक विषय के परम जानकार प्राचीन ऋषियों के बनाये हुए आध्यात्मिक ग्रन्थोंका स्वाध्याय--स्वयं पढ़ना सुनना, चर्चा करना--आदि किया जावे।

उसी सरल साधन के रूपमें जनता के लाभ के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित किया गया है। यह एक ग्रन्थ तीन ग्रन्थोका समुदाय रूप है। इसमें समाधितन्त्र, इष्टोपदेश और स्वरूप-सम्बोधन ये तीन ग्रन्थ सम्मिलित हैं। तीनों ग्रन्थ आत्मा का स्वरूप और आत्मा की शुद्धि का उपाय वहुत संक्षेप और सरलता से बतलाने वाले हैं। तीनों ग्रन्थों की सरल संस्कृत टीकाएँ हैं और उनकी सरल हिन्दी व्याख्या भी है। अतः जिसतरह संस्कृत भाषाका जानकार इनग्रन्थों का भाव सरलता से जान सकता है उसी तरह हिन्दी भाषा के साधारण पढे लिखे स्त्री पुरुष भी इन तीनों आध्यात्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय करके आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, इतना ध्यान रहे कि हिन्दी व्याख्या स्वतंत्र की गई है, संस्कृत टीकाओं का अनुवाद या अनुकरण रूप नहीं है।

मूल ग्रन्थकार का परिचय

समाधितन्त्र तथा इष्टोपदेश, इन दो ग्रन्थों के निर्माता श्री पूज्य पाद आचार्य हैं और स्वरूप-सम्बोधन के रचयिता श्री अकलंक देव हैं। समाधितन्त्र ग्रन्थमें १०५ श्लोक हैं,इष्टोपदेश ग्रन्थमें ५१श्लोक हैं और स्वरूप सम्बोधन ग्रन्थमें केवल२५ श्लोक हैं, स्वल्प श्लोक-संख्या होते हुए भी इनमें आध्यात्मिक विषयोंका सार-गर्भित निचोड़ भरा हुआ है, अतः जिस तरह शरीर का भयंकर रोग या वेदना दूर करने के लिये अमृत—परम औषधि की एक--दो बूंद भी पर्याप्त (काफी)होती है,उसी तरह इन ग्रन्थोंके थोड़े श्लोक भी आत्म-अज्ञान दूर करने के लिये बहुत उपयोगी हैं, अतः ये तीनों ग्रन्थ अमृत की तरह आत्माका कल्याण करने वाले हैं। इस बातका परिज्ञान स्वाध्याय करने वाले स्त्री पुरुषो को स्वयं ज्ञात हो जायगा।

श्री पूज्यपाद आचार्य

जैन ऋषि-परम्परा में श्री पूज्यपाद आचार्य सिद्धान्त, व्याकरण वैद्यक, लक्षण निर्देश आदि अनेक विषयों के महान विद्वान हुए हैं। वे विक्रम सं०की छठी तथा ईसवीकी ५वीं शताब्दीमें हुए हैं। उन्होंनें सर्वार्थसिद्धि, व्याकरण, सिद्धभक्ति जिनाभिषेक, छन्दशास्त्र आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है।

नाममालामें श्री धनञ्जय कविने पूज्यपादके लक्षण—शब्दशास्त्र को अद्वितीय बतलाया है—

प्रमाणमकलंकस्य, पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसन्धानकवेःकाव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

संस्कृत व्याकरण के ग्रन्थों में श्री पूज्यपाद आचार्य का बनाया

हुआ जैनेन्द्र व्याकरण अनुपम है। जैनेन्द्र प्रक्रिया में श्री गुणनन्दि आचाय ने लिखा है—

नमः श्री पूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम्।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नास्ति न तत्क्वचित्॥

यानी-अन्य व्याकरणोंमें उतना ही विषय है जितनाकि श्रीपूज्य पाद आचार्य प्रणीत जैनेन्द्र व्याकरणमें है,जो विषय जैनेन्द्रव्याकरण में नहीं है वह किसी भी व्याकरण ग्रन्थ में नहीं है।

श्रवण बेलगोल के शिलालेख नं० ४७, ५० में लिखा है—

सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपे श्री पूज्यपादः स्वयम्।

यानी—श्री पूज्यपाद आचार्य वैयाकरण विद्वानों के अधिपपि हैं।

इसी प्रकार वे रसायन शास्त्र, वैद्यक आदि विषयोंके भी महान ज्ञाता थे, इस बातकी साक्षी अन्य ग्रन्थों तथा शिलालेखों के उल्लेख देते हैं।

श्रीपूज्यपाद आचार्यका दीक्षानाम देवनन्दी था और प्रसिद्ध नाम जिनेद्रबुद्धि तथा पूज्यपाद था उनके निर्मित जैनेन्द्र व्याकरणका नाम उनके 'जिनेन्द्रबुद्धि' नामके अनुसार रक्खागया है। श्रवणवेलगोल के शिलालेख ४० (६४) में लिखा है

य: देवनन्दी प्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्।

यानी—उनका पहला दीक्षितनाम देवनन्दी था, महान बुद्धिमान होने के कारण उनका नाम जिनेन्द्रवुद्धि प्रसिद्ध हुआ और वनदेवताओं ने उनके चरणों की पूजा की, अतः उनका नाम 'पूज्यपाद' प्रसिद्ध हुआ।

उनही श्री पूज्यपाद आचार्य ने समाधितन्त्र और इष्टोपदेश इन दो आध्यात्मिक ग्रन्थों की रचना की है।

श्री अकलंक देव

श्री अकलंक देव अपने समय के अद्वितीय विद्वान हुए हैं उन्होंने धर्म-प्रचारमें उस समयमें अग्रसर बौद्धसाम्राज्यसे टक्कर ली और अनेक महान बौद्ध विद्वानों को राजसभाओ में तथा अन्य बड़ी सभाओंमें शास्त्रार्थद्वारा परास्त करके जैनधर्म की महान प्रभावना की।

श्री अकलंक देव ने तत्वार्थ--राजवार्तिक नामक महान सिद्धान्त ग्रन्थ तत्वार्थ सूत्र के भाष्य के रूपमें लिखा है। श्री समन्तभद्रांचार्य के देवागम स्तोत्र की ७००श्लोक प्रमाण 'आप्तमीमांसा' नामक महत्वपूर्ण संक्षिप्त टीका लिखी है

उस आप्तीमीमांसा का विस्तृत विवेचन श्रीविद्यानन्द आचार्यने आठ हजार श्लोक प्रमाण अष्टसहस्री ग्रन्थ द्वारा किया है।

प्रमाणको दार्शनिक तथा तार्किक रूप देने की नीव श्री अकलंक देवने 'प्रमाणसंग्रह' ग्रन्थ लिखकर डाली। जीवसिद्धि आदि विषयों को अकाट्ययुक्तिमय लिखकर लघीयस्त्रय आदि महत्वपूर्ण संक्षिप्त ग्रन्थों की रचना की। और भी अनेक तार्किक महत्वपूर्ण ग्रन्थोंका निर्माण श्री अकलंकदेव ने किया है।

श्री धनञ्जय कवि ने नाममाला (संस्कृत भाषा का संक्षिप्त महत्त्वपूर्ण कोष) के अन्त में पूर्वोक्त श्लोकके आद्यचरण 'प्रमाणमलंकस्य' द्वारा श्री अकलंक देवके प्रमाण विषयक रचनाओंको अनुपम वतलाया है।

उनही महान विद्वान, बालब्रह्मचारी, महान प्रभावक तार्किक विद्वान श्री अकलंकदेव ने २५ श्लोक प्रमाण आध्यात्मिक सारभूत 'स्वरूप—सम्बोधन' ग्रन्थ बनाया है। इसमें आपने आत्माका स्वरूप अनेकान्त की छटासे बहुत सुन्दर बतलाया है जिसमें आपकी तार्किकता झलक रही है।

टीकाकार

समाधितन्त्रके संस्कृत टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य विक्रमसंवत की १२ वीं, १३ वीं शताब्दीके विद्वान हैं, इन्होंने श्री समन्तभद्र आचार्य—रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रन्थ की भी टीका की है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी टीकाके समान ही यह समाधितन्त्र की टीका भी सरल, नाति-संक्षिप्त, नातिविस्तृत है।

इष्टोपदेश के संस्कृत टीकाकार श्री पं० आशाधर जी बघेरवाल जातिके भूषण, अनेक विषयोंके महान विज्ञाता, मुनियोंको भी पढ़ाने वाले विक्रम सं० की १३ वीं० शताब्दो के प्रसिद्ध विद्वान हैं। इन्होंने स्वोपज्ञ टीका सहित अनगारधर्मामृत सागारधर्मामृत, प्रतिष्ठा सारोद्धार, भरतेश्वराभ्युदय काव्य आदि अनेक मौलिक ग्रन्थोंकी रचना की है तथा अमर कोष आदि अनेकग्रन्थोंकी संस्कृत टीका की है। वैद्यक ग्रन्थ भी बनाया है। लगभग १३—१४ ग्रन्थों के रचयिता और टीकाकार हुए हैं। आपकी ही रची हुई इष्टोपदेश ग्रन्थ की संस्कृत टीका है जो कि सागारधर्मामृत आदि ग्रन्थोंकी अपेक्षा संक्षिप्त है परन्तु मूलग्रन्थकारका आशय अच्छा स्पष्ट करती है। कुछ श्लोकोंकी टीका में आपने उस विषयसे मेल खाने वाले अन्य ग्रन्थोंके भी श्लोक दिये हैं।

स्वरूप सम्बोधनकी संस्कृत टीकाके टीकाकार श्री विद्यावारिधि पं० खूबचन्द्रजी शास्त्री हैं, जिन्होंने न्यायदीपिका, अनगारधर्मामृत गोम्मटसार जीवकांड आदि ग्रन्थोंकी हिन्दी टीकाकी है एवं रत्नकरण्ड श्रावकाचार की विस्तृत व्याख्या की है जिसको आप पूर्ण नहीं कर पाये। स्वरूप सम्बोधन की टीका में आपने श्री अकलंकदेव के हृदयको संक्षेप से अच्छा खोला है।

इसके दूसरे संस्कृत-टीकाकारका नाम तथा परिचय अज्ञात है, यह टीका पूज्य आचार्य श्री १०८ शिवसागर जी महाराज के संघस्थ विद्वान मुनि श्री १०८ अजितसागर जी महाराज ने भेजी है, यह टीका सक्षिप्त, साधारण है।

मैंने उक्त तीनों (समाधितंत्र इष्टोपदेश,स्वरूप सम्बोधन) ग्रन्थों का हिन्दी अन्वयार्थ तथा भावार्थ लिखा है। यह हिन्दी टीका उक्त संस्कृत टीकाओं का हिन्दी—अनुवाद रूप नहीं है,स्वतन्त्र है। सावधानी रखते हुए भी इसमें त्रुटि रह सकती है, जो कि क्षन्तव्य है।

विषय

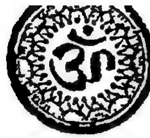
यद्यपि ये तीनो ग्रन्थ आध्यात्मिक हैं परन्तु स्वरून-सम्बोधन की रचनामें श्रीअकलक देय ने श्री समन्तभद्राचार्य का अनुकरण रूप तार्किकढ़ग अपनाया है। और आत्माका स्वरूप बतलाने में आपने अनेकान्तसिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। इस तरह २५ श्लोकों की इस छोटी आध्यात्मिक रचनामें आपने आत्म– सम्बन्धी विवेचन में तार्किक छटासे स्याद्वाद, अनेकान्तवाद या सप्तभङ्गी का पठनीय और चर्चनीय विषय प्रगट किया है जिस की बहुत विशाल व्याख्या की जा पकती है।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने समाधितन्त्र और इष्टोपदेशमें श्री कुन्दकुन्द आचार्य की आध्यात्मिक प्रणालीको अपनाया है, समाधितन्त्रके कतिपय पद्य श्री कुन्दकुन्द आचार्य-रचित प्राकृत ग्रन्थोंकी गाथाओंके संस्कृत भाषामें अनुवाद रूप हैं। आपने दोनों ग्रन्थों में आध्यात्मिक विषय को बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्माके रूपमें व्यवहार नय तथा निश्चनय के सामञ्जस्य से अच्छा स्पष्ट किया है।

समाधितन्त्रके स्वाध्याय करने से हृदयमें सांसारिक विषयभोगों से अरुचि और आत्मरुचि जाग्रत होती है। जिस सरल और सुन्दर ढंगसे आपने आध्यात्मिक विवेचन क्रमवार किया है वह देखते ही बनता है।

आपने समाधितन्त्रके ८३-८४ वें श्लोकों में बतलाया है कि पहले हिंसादि पापों का परित्याग करके यथाशक्ति अहिंसा आदि अणुव्रत या महाव्रत ग्रहण करना चाहिये फिर व्रतचर्यामें परिपक्व होकर क्रमसे धर्मध्यान शुक्लध्यान द्वारा मुक्ति प्राप्त करना चाहिये। जो महानुभाव विना व्यावहारिक आचरण (व्रताचरण) के मुक्ति प्राप्त करनेका प्रचार करते हैं उन्हें श्री पूज्यपाद आचार्यके बतलाये हुये क्रमिक आत्मविकासपर गंभीरतासे ध्यान देना चाहिये, १०२ वें श्लोक में आप ने जो उपवास आदि तपश्चरण तथा परिसह-सहन आदि की उपयोगितापर प्रकाश डाला है वह भी आध्यात्मिक उपदेष्टाओं को कमसे कम निज आत्महित के लिये चिन्तनीय और आचरणीय है।

अजितकुमार शास्त्री



नमः सिद्धेभ्यः

श्री पूज्यपाद-आचार्य-विरचित

समाधि-तन्त्र



श्री पूज्यपादस्वामी मुमुक्षूणां मोक्षस्वरूपं चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकफलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—

येनात्माऽबुद्ध्यतात्मैव, परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय, तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥१॥

श्रीप्रभाचन्द्र कृत संस्कृतटीका

(मंगलाचरण)

सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोधं निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवन्द्यम् ।
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीरम ॥१॥

टीका—अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपाय उत्तरार्द्धेन च मोक्षस्वरूपमुपदर्शितम्। सिद्धात्मने सिद्धपरमेष्ठिने सिद्धः सकलकर्मविप्रमुक्तः स चासावात्मा च तस्मै नमः। येन किं कृतं। अबुद्धयत ज्ञातः। कोऽसौ? आत्मा कथं? आत्मैव। अयमर्थः येन सिद्धात्मनाऽत्रात्मैवाध्यात्मत्वेनाबुद्धयत न शरीरादिकं कर्मोपादितसुरनरनारकतिर्यगादिजीवपर्यायादिकं वा। तथा परत्वेनैव चापरं अपरं च शरीरादिकं कर्मजनितमनुष्यादिजीवपर्यायादिकं वा परत्वेनैवात्मनो भेदेनैवाबुद्धयत। तस्मै कथंभूताय? अक्षयानन्तबोधाय अक्षयोऽविनश्वरोऽनन्तोदेशकालानवच्छिन्नस्समस्तार्थपरिच्छेदको वा बोधो यस्य तस्मै। एवंविधबोधस्य चानन्तदर्शनसुखवीर्यैरविनाभावित्वसामर्थ्यादनंतचतुष्टयरूपायेति गम्यते। ननु चेष्टदेवताविशेषस्य पञ्चपरमेष्ठिरूपत्वात्तदत्र सिद्धात्मन एव कस्माद् ग्रन्थकृता नमस्कारः कृत इति चेत् ग्रन्थस्य कर्तुर्व्याख्यातुः श्रोतुरनुष्ठातुश्च सिद्धस्वरूपप्राप्त्यर्थत्वात्। यो हि यत्प्राप्त्यर्थी स तं नमस्करोति यथा धनुर्वेदप्राप्त्यर्थी धनुर्वेदविदं नमस्करोति। सिद्धस्वरूपप्राप्त्यर्थी च समाधिशतकशास्त्रस्य कर्ता व्याख्याता श्रोता तदर्थानुष्ठाता चात्मविशेषस्तस्मात्सिद्धात्मानं नमस्करोतीति। सिद्धशब्देनैव चार्हदादीनामपि ग्रहणम्। तेषामपि देशतः सिद्धस्वरूपोपेतत्वात् ॥ १ ॥

मङ्गलाचरण करते हुए ग्रन्थकार सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करते हैं—

अन्वय-अर्थ- (येन) जिसने (आत्मा) अपना आत्मा (आत्मैव) आत्मा रूप ही (च) और (अपरम्) अन्य शरीर आदि जड़ पदार्थ तथा चेतन पदार्थ (परत्वेनैव) अन्य पदार्थ के रूप से ही (अबुद्धयत) जाने हैं। (तस्मै) उस

(अक्षयानन्तबोधाय) अविनाशी अनन्तज्ञानमय (सिद्धात्मने) सिद्ध परमेष्ठी को (नमः) नमस्कार है।

भावार्थ -संसारी जीव अनादि काल से मिथ्या-श्रद्धान तथा मिथ्याज्ञानके कारण कर्म उदय से कुछ समय के लिये मिले पौद्गलिक शरीर, धन, जमीन, मकान आदि जड़पदार्थों तथा पुत्र, स्त्री, पिता, माता, भ्राता, मित्र आदि चेतन पदार्थों को तो अपना म[illegible]ा रहा है। उस मोह ममता के कारण अपने राग द्वेष आदि भावों से नया नया कर्म-बन्धन करता रहा है। किन्तु कभी इसने अपने आत्मा को अपना नहीं समझा। इस तरह यह बहिरात्मा (अन्य पदार्थों में आत्म-बुद्धि करने वाला) बना रहा। जब संसारी जीव जिनेन्द्रदेव की वाणी या सद्गुरु की वाणी सुनकर अपनी आत्मा की श्रद्धा और बोध प्राप्त कर लेता है तब वह अपने आत्मा में रुचि करके अपने आत्मा से अन्य सभी जड़ चेतन पदार्थों में मोह, राग, द्वेष त्याग करके 'अन्तरात्मा' बनता है। उस समयसे अपनी आत्मश्रद्धा आत्म-ज्ञान तथा वैराग्यमय सच्चारित्र द्वारा, आत्मध्यान से कर्म के बन्धन को तोड़ना प्रारम्भ करदेता है। जिसका फल यह होता है कि पहिले वह मोहनीय कर्म का नाश करके वीतराग बनता है फिर

अन्तर्मुहूर्त में ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय कर्मों का नाश करके अनन्त अक्षय ज्ञान, दर्शन, वीर्य से सम्पन्न अर्हन्त परमेष्ठी बन जाता है। फिर अन्त में शेष वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र इन चार अघाती कर्मों का नाश करके पूर्णमुक्त होकर सिद्ध परमात्मा बन जाता है। ग्रन्थकार ने उसी सिद्ध परमात्मा को आराध्यदेव मान कर के ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में नमस्कार किया है।

ज्ञानावरण का पूर्ण नाश हो जाने से सिद्ध परमात्मा का ज्ञान अक्षय (सदा रहनेवाला) और त्रिकालवर्ती समस्त अनन्तानन्त पदार्थों को युगपत् (एकसाथ) जानने के कारण अनन्त होता है।

विशेष- पंच परमेष्ठियों में अर्हन्त परमेष्ठी को प्रथम स्थान दिया गया है परन्तु ग्रन्थकार ने परमशुद्ध निकल परमात्मा सिद्ध परमेष्ठीको सबसे पहिले नमस्कार किया है।

अथोक्तप्रकारसिद्धस्वरूपस्य तत्प्राप्त्युपायस्य चोपदेष्टारं सकलात्मानमिष्टदेवताविशेषं स्तोतुमाह—

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती,
विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे,
जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥२॥

टीका—यस्य भगवतो जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। काः ? भारती-विभूतयः भारत्याः वाण्याः विभूतयो बोधितसर्वात्महितत्वादिसम्पदः। कथम्भूतस्यापि जयन्ति ? अवदतोऽपि ताल्वोष्ठपुटव्यापारेण वचन-मनुच्चारयतोऽपि। उक्तं च—

"यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पंदितोष्ठद्वयं,
नो वांछाकलितं न दोषमलिनं न श्वासरुद्धक्रम।
शान्तामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः,
तन्नः सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः" ॥ १ ॥

अथवा भारती च विभूतयश्च छत्रत्रयादयः। पुनरपि कथम्भूतस्य ? तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः ईहा वाञ्छा मोहनीयकर्मकार्यं, भगवति च तत्क-र्मणः प्रक्षयात्तस्याः सद्भावानुपपत्तिरतोऽनीहितुरपि तत्करणेच्छारहित-स्यापि. तीर्थकृतः संसारोत्तरणहेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थमागमः तत्कृत-वतः। किं नाम्ने तस्मै ? सकलात्मने शिवाय शिवं परमसौख्यं परम-कल्याणं निर्वाणं चोच्यते तत्प्राप्ताय। धात्रे असिमषिकृष्यादिभिः सन्मार्गोपदेशकत्वेन च सकललोकाभ्युद्धारकाय। सुगताय शोभनं गतं ज्ञानं यस्यासौ सुगतः, सुष्ठु वा अपुनरावर्त्यंगतिं गतः सम्पूर्णं वा अनन्तचतुष्टयं गतः प्राप्तः सुगतस्तस्मै। विष्णवे केवलज्ञानेनाशेषवस्तु-व्यापकाय। जिनाय अनेकभवगहनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनस्तस्मै। सकलात्मने सह कलया शरीरेण वर्तत इति सकलः सचा-सावात्मा च तस्मै नमः ॥ २ ॥

अब सकल परमात्मा रूप अर्हन्त परमेष्ठी को नमस्कार करते हैं—

अन्वय-अर्थ—(यस्य) जिस (अनीहितुः) इच्छारहित (अवदतोऽपि) न बोलते हुए भी (तीर्थकृतः) तीर्थंकर की (भारतीविभूतयः) दिव्यध्वनि की विभूतियां (जयन्ति) जयवन्त हैं। (तस्मै) उस [शिवाय) कल्याणरूप (धात्रे) मोक्षमार्ग के निर्माता यानी—बनाने वाले (सुगताय) जन्म मरण रहित सुगति-मोक्षगति को प्राप्त (विष्णवे) केवलज्ञान द्वारा समस्त लोक अलोक में व्यापक—फैले हुए (सकलात्मने सकल यानी शरीरधारी परमात्मा (जिनाय) जिनेन्द्र अर्हन्त भगवान को (नमः) नमस्कार हो।

विशेषार्थ—चार घातीकर्म नष्ट करके अर्हन्त वीतराग पद प्राप्त होता है, अतः मोहनीय कर्मके न रहने से वीतराग अर्हन्त भगवान के किसी भी तरह की—बोलने, विहार करने आदि की -इच्छा नहीं होती, फिर भी तेरहवें गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति का उदय होने से उन इच्छारहित वीतराग अर्हंत भगवान की दिव्यध्वनि स्वयं प्रगट होती है। उस ध्वनि द्वारा चारों अनुयोगों, द्वादशअङ्गों का विश्व-कल्याणकारी वैभवशाली उपदेश समस्त जनता को उपलब्ध होता है।

तथा—अर्हन्त भगवान वीतराग होने से वास्तव में कल्याणकारी या कल्याणरूप 'शिव' हैं, मोक्षमार्ग को अपने आचरण तथा उपदेश द्वारा बनाने वाले हैं, अतः वे इस अपेक्षा से 'विधाता' हैं, ऐसी सुगति (श्रेष्ठगति—मुक्ति) को पा चुके हैं जिससे फिर उन्हे जन्म नहीं लेना पड़ता, अतः वे वास्तव में 'सुगत' हैं, लोक अलोक एवं त्रिकाल को जानते वाले अपने केवलज्ञान द्वारा सर्वव्यापक हैं अतः वे यथार्थ में विष्णु हैं, अज्ञान, अदर्शन, कषायभाव तथा निर्बलता उत्पन्न करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय (चारों घातीकर्मों के] जीतनेवाले यानी-उनका पूर्ण क्षय करनेवाले हैं, इसकारण यथार्थ में 'जिन' हैं और शरीर सहित परमात्मा हैं, इस कारण सकल-परमात्मा हैं। इन सब विशेषताओं वाले अर्हन्त भगवान को इस दूसरे श्लोक द्वारा नमस्कार किया गया है ।

ननु-निष्कलेतररूपमात्मानं नत्वा भवान् किं करिष्यतीत्याह—

श्रुतेन लिङ्गेन यथात्मशक्ति,
समाहितान्तःकरणेन सम्यक् ।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां,
विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥ ३ ॥

टीका—अथ इष्टदेवतानमस्कारकरणानन्तरं । अभिधास्ये कथयिष्ये कं ! विविक्तमात्मानं कर्ममलरहितं जीवस्वरूपं । कथमभिधास्ये ? यथात्मशक्ति आत्मशक्तेरनतिक्रमेण । किं कृत्वा ? समीक्ष्य तथाभूतमात्मानं सम्यग्ज्ञात्वा । केन ? श्रुतेन—

"एगो मे सासओ आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा" ।

'इत्याद्यागमेन । तथा लिंगेन हेतुना । तथाहि-शरीरादिरात्मभिन्नो-भिन्नलक्षणलक्षितत्त्वात् । ययोर्भिन्नलक्षणलक्षितत्त्वं तयोर्भेदो यथा-जलानलयोः भिन्नलक्षणलक्षितत्त्वं चात्मशरीरयोरिति । न चानयोर्भिन्नलक्षणलक्षितत्त्वमप्रसिद्धम् । आत्मनः उपयोगस्वरूपोपलक्षितत्वात्—शरीरादेस्तद्विपरीतत्त्वात् । समाहितान्तः-करणेन समाहितमेकाग्रीभूतं तच्च तदन्तः-करणं च मनस्तेन । सम्यक्—समीक्ष्य सम्यग्ज्ञात्वा अनुभूयेत्यर्थः । केषां तथाभूतमात्मानमभिधास्ये ? कैवल्यसुखस्पृहाणां कैवल्ये सकलकर्मरहितत्त्वे सति सुखं तत्र स्पृहा अभिलाषो येषां, कैवल्ये विषयाप्रभवे वा सुखे, कैवल्यसुखयोः स्पृहा येषाम् ॥३॥

ग्रन्थ बनाने की प्रतिज्ञा—

अन्वयार्थ - [अथ) सिद्ध तथा अर्हन्त भगवान को नमस्कार करने के पश्चात् मैं (श्रुतेन) आगम से, (लिंगेन) हेतु-युक्ति द्वारा, (समाहितान्तः-करणेन) अपने चित्त को स्थिर करके, (यथात्मशक्ति] अपनी शक्तिअनुसार (सम्यक्-समीक्ष्य) अच्छी तरह जान कर (कैवल्यसुखस्पृहाणां शुद्ध

आत्म-सुख के इच्छुक जीवों के लिये (विविक्तं आत्मानं) शुद्ध-आत्म-तत्व को (अभिधास्ये) मैं कहूँगा।

विशेष— मङ्गलाचरण करने के पश्चात् ग्रन्थकार श्री पूज्यपाद आचार्य ने इस श्लोक द्वारा इस समाधि-तन्त्र ग्रंथ लिखने का उद्देश तथा प्रतिज्ञा प्रगट की है कि मैं मोक्षार्थी स्त्री पुरुषों को शुद्ध आत्मा का बोध कराने के लिये आगमानुसार युक्तियों से शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्रतिपादन करूंगा।

कतिभेदः पुनरात्मा भवति ? येन विविक्तमात्मानमिति विशेष उच्यते। तत्र कुतः कस्योपादानं कस्य वा त्यागः कर्तव्य इत्याशंक्याह—

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥ ४ ॥

टीका—बहिर्बहिरात्मा, अन्तः अन्तरात्मा, परश्च परमात्मा इति त्रिधा आत्मा त्रिप्रकार आत्मा। क्व ? सर्वदेहिषु सकलप्राणिषु। ननु अभव्येषु बहिरात्मन एव सम्भवात् कथं सर्वदेहिषु त्रिधात्मा स्यात् ? इत्यप्यनुपपन्नं, तत्रापि द्रव्यरूपतया त्रिधात्मसद्भावोपपत्तेः। कथं पुनस्तत्र पंचज्ञानावरणान्युपपद्यन्ते ? केवलज्ञानाद्याविर्भावसामग्री हि तत्र कदापि न भविष्यतीत्यभव्यत्वं, न पुनः तद्योगद्रव्यस्याभावादिति। भव्यराश्यपेक्षया वा सर्वदेहिग्रहणं। आसन्नदूरदूरतरभव्येषु अभव्य-

समानभव्येषु च सर्वेषु त्रिधाऽऽत्मा विद्यत इति। तर्हि सर्वज्ञे परमात्मन एव सद्भावाद् बहिरन्तरात्मनोरभावात्त्रिधात्मनो विरोध इत्यप्ययुक्तम्। भूतपूर्वप्रज्ञापन-नयापेक्षया तत्र तद्विरोधासिद्धेः घृतघटवत्। यो हि, सर्वज्ञावस्थायां परमात्मा-सम्पन्नः स पूर्वबहिरात्मा अन्तरात्मा चासीदिति। घृतघटवदन्तरात्मनोऽपि बहिरात्मत्वं च भूतभाविप्रज्ञापननयापेक्षया द्रष्टव्यम्। तत्र कुतः कस्योपादानं कस्य वा त्यागः कर्तव्य इत्याह-उपेयादिति। तत्र तेषु त्रिधात्मसु मध्ये उपेयात् स्वीकुर्यात् परमं परमात्मानं। कस्मात्? मध्योपायात्। मध्योऽन्तरात्मा स एवउ पायस्तस्मात् तथा बहिः बहिरात्मानं मध्योपायादेव त्यजेत् ॥ ४ ॥

अब आत्मा के भेद बतलाते हैं—

अन्वय- अर्थ-[सर्वदेहिषु) समस्त शरीर-धारी जीवोंमें पृथक् पृथक् रूप से (आत्मा) चेतन आत्मा (बहिः) बहिरात्मा, (अन्तः) अन्तरात्मा (च) और [परः] परमात्मा (इति) इस तरह (त्रिधा) तीन प्रकार का है। (तत्र) उनमें से (मध्योपायात्) अन्तरात्मा के द्वारा (परमम्) परमात्मा को (उपेयात्) प्राप्त करना चाहिये, और (बहिस्त्यजेत्) बहिरात्मा का त्याग कर देना चाहिये।

विशेष - इस जगत में अनन्तानन्त ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव हैं जो आत्मा को जानते ही नहीं, बाहरी शरीर को ही आत्मा समझकर उसी के पालन पोषण में लगे रहते हैं, वे

सब बहिरात्मा जीव हैं। जो आत्मा को शरीर से भिन्न समझ कर आत्मा को शरीर और कर्मों से पृथक् करने में लगे हुए हैं, वे अन्तरात्मा जीव हैं। जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों को नष्ट करके अर्हन्त भगवान बन जाते हैं, वे सकल (सशरीर) परमात्मा हैं और जो शेष चार अघातिया [वेदनीय, आयु नाम, गोत्र) कर्मों का भी नाश करके परमशुद्ध परमात्मा बन जाते हैं वे निकल (शरीर रहित) सिद्ध परमात्मा हैं।

इनमें से बहिरात्मापन तो दुखमय संसार के भ्रमण का कारण है,; अतः वह तो त्याग देने योग्य है परमात्मा बनने के उद्देश स सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र द्वारा आत्मा को शुद्ध करने में प्रयत्नशील अन्तरात्मा बनना उचित है क्योंकि व्यवहार सम्यक्त्व (सराग सम्यग्दर्शन), व्यवहार सम्यग्ज्ञान (सरागसम्यग्ज्ञान) और व्यवहार चारित्र (अणुव्रत महाव्रत-रूप सरागचारित्र) के द्वारा ही क्रम से घातिया कर्मों का नाश होकर अर्हन्त परमात्मा पद मिलता है। इसलिये निश्चय रत्नत्रयधारी परमात्मा बनने का उपाय व्यवहार रत्नत्रयधारक अन्तरात्मा बनना है।

इस तरह ग्रन्थ-कार ने इस श्लोक में प्रत्येक भव्य प्राणी को बहिरात्मापन छोड़कर परमात्मा बनने की प्रेरणा की है और परमात्मा बनने का उपाय अन्तरात्मा बनना बतलाया है।

तत्र बहिरन्तःपरमात्मनां प्रत्येकं लक्षणमाह—

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्मातिनिर्मलः॥ ५ ॥

टीका—शरीरादौ शरीरे आदिशब्दाद्वाङ्मनसोरेव ग्रहणं तत्र जाता आत्मेति भ्रान्तिर्यस्य स बहिरात्मा भवति। आन्तरः अन्तर्भवः। तत्र भव इत्यणाष्टेर्भमात्रे टि लोपमित्यस्याऽनित्यत्वं येषां च विरोधः शाश्वतिक इति निर्देशात् अन्तरे वा भव आन्तरोऽन्तरात्मा। स कथंभूतो भवति ? चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः चित्तं च विकल्पो, दोषाश्च रागादयः, आत्मा च शुद्धं चेतनाद्रव्यं तेषु विगता विनष्टा भ्रान्तिर्यस्य चित्तं चित्तत्वेन बुध्यते दोषाश्च दोषत्वेन आत्मा आत्मत्वेनेत्यर्थः। चित्तदोषेषु वा विगता आत्मेति भ्रान्तिर्यस्य। परमात्मा भवति किं विशिष्टः ? अतिनिर्मलः प्रक्षीणाशेषकर्मफलः॥ ५ ॥

अब तीनों आत्माओं का स्वरूप बतलाते हैं—

अन्वय- अर्थ - (शरीरादौ) शरीर, पुत्र, स्त्री, धन, पशु,मकान आदि अन्य पदार्थों में (जातात्मभ्रान्तिः) जिसे

अपने आत्मा का या अपनेपन का भ्रम होता है वह [बहिरात्मा) बहिरात्मा जीव है। (चित्तदोषात्मविभ्रांतिः)जिसको चित्त, रागद्वेष आदि दोषों तथा आत्मा के विषय में भ्रम नहीं रहा यानी -जो उन्हें पृथक्-पृथक् ठीक तरह जानता है, वह (आंतरः) अंतरात्मा है। (अतिनिर्मलः) जो मिथ्यात्व अज्ञान और राग आदि दोषों से सर्वथा छूटकर अत्यंत निर्मल हो गया है, वह (परमात्मा) है।

विशेष-जो जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय से अपनी आत्मा को न पहचान करके शरीर को ही आत्मा समझते हैं। शरीर सम्बंध से माता- पिता, पुत्र-स्त्री, धन आदि चेतन, अचेतन पदार्थों को अपना समझते हैं यानी-जिन्हें आत्मतत्व की तथा अजीव आदि तत्व की सत्श्रद्धा नहीं है, वे मिथ्यादृष्टि जीव बहिरात्मा होते हैं। जिनको सम्यग्दर्शन के कारण आत्मा और शरीर का तथा अन्य चेतन अचेतन पदार्थों का भेद-विज्ञान होता है, वे परमात्मा बनाने के लिये अपनी शक्ति-अनुसार असंयम अवस्था में, संयमासंयम अवस्था में अथवा संयम अवस्था में कुगुरु, कुदेव,-कुधर्म-श्रद्धा का त्याग करके दान, पूजा, स्वाध्याय सामायिक, कुव्यसन त्याग, अभक्ष्य-भक्षण-त्याग

करते हैं और यथासम्भव व्रत आदि करते हैं। ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी भी श्रावक प्रतिमा का आचरण करते हैं अथवा मुनि-दीक्षा लेकर महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि का आचरण करते हैं, धर्मध्यान करते हैं। वे सब अन्तरात्मा होते हैं उनमें से उत्तम अन्तरात्मा जब शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर देते हैं तब वे ही अन्तरात्मा परमात्मा बन जाते हैं।

तद्वाचिकां नाममालां दर्शयन्नाह—

निर्मलः केवलः सिद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः॥ ६॥

टीका—निर्मलः कर्ममलरहितः। केवलः शरीरादीनां सम्बन्धरहितः। शुद्धः द्रव्यभावकर्मणामभावात् परमविशुद्धि-समन्वितः। विविक्तः शरीरकर्मादिभिरसंस्पृष्टः। प्रभुरिन्द्रादीनां स्वामी। अव्ययो लब्धानंतचतुष्टयस्वरूपादप्रच्युतः। परमेष्ठी परमे इन्द्रादिवन्द्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी, स्थानशीलः। परात्मा संसारिजीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा। इति शब्दः प्रकारार्थे। एवं प्रकारा ये शब्दास्ते परमात्मनो वाचकाः परमात्मेत्यादिना तानेव दर्शयति। परमात्मा सकलप्राणिभ्य उत्तम आत्मा ईश्वरः इन्द्राद्यसम्भविना अन्तरङ्गबहिरङ्गेण परमैश्वर्येण सदैव सम्पन्नः जिनः सकलकर्मोन्मूलकः॥ ६॥

परमात्मा का स्वरूप —

अन्वय-अर्थ—परमात्मा (निर्मलः) राग द्वेष आदि आत्ममल, ज्ञानावरण आदि कर्म-मल और शरीर-मल से रहित (केवलः) अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से रहित अकेला, (शुद्धः) समस्त दोषों से रहित, (विविक्तः) सब पदार्थों से भिन्न, (प्रभुः) त्रिलोक का स्वामी,-इन्द्र, धरणीन्द्र, चक्रवर्ती आदि से पूजनीय, (अव्ययः) अपने गुणों और पर्याय से कभी नष्ट न होने वाला, (परमेष्ठी) सबसे उच्च पद में स्थित, [परात्मा] समस्त संसारी जीवों से उत्कृष्ट, (परमात्मा) सबसे उत्कृष्ट आत्मा, (ईश्वरः) अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि ऐश्वर्य का धारक, (जिनः) समस्त अन्तरङ्ग शत्रुओं—राग द्वेष आदिका तथा बहिरङ्ग शत्रुओं —ज्ञानावरण, मोहनीय आदि कर्म-शत्रुओं का जीतने वाला है।

सारांश—परमात्मामें अनन्त शुद्ध अक्षय गुण और विशेषताऐं होती हैं, अतः उन अनन्त अनुपम गुणों के कारण उनके अनन्तों नाम हैं।

इदानीं बहिरात्मनो देहस्यात्मत्वेनाध्यवसाये कारणमुपदर्शयन्नाह-

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः।
स्फुरितश्चात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥ ७ ॥

टीका-इन्द्रियद्वारैरिन्द्रियमुखैः कृत्वा स्फुरितो बहिरर्थग्रहणे व्यापृतः सन् बहिरात्मा मूढात्मा। आत्मज्ञानपराङ्मुखो जीवस्वरूपज्ञानाद्बहिर्भूतो भवति। तथाभूतश्च सन्नसौ किं करोति ? स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति आत्मीयशरीरमेवाहमिति प्रतिपद्यते ॥ ७ ॥

बहिरात्मा का स्वरूप—

अन्वय-अर्थ-(बहिरात्मा) मिथ्यादृष्टि जीव [इन्द्रियद्वारैः] स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र, कर्ण इन्द्रियों के द्वारा स्फुरितः] बाहरी पदार्थों में स्फुरायमान- बाहरी पदार्थों का जानने तथा अनुभव करने वाला है, (आत्मज्ञानपराङ्मुखः) अपने आत्मज्ञान से विमुख-रहित होता है, इसकारण (आत्मनः-देहं) अपने शरीर को (आत्मत्वेन) आत्मा रूप से (अध्यवस्यति) जानता है ।

भावार्थ-संसारी जीव स्पर्शन इन्द्रिय यानी-अपने शरीर के चर्म द्वारा दूसरे पुद्गलीक पदार्थों को छूकर ठंडे, गर्म आदि रूप से जानता है, रसना इन्द्रिय—जीभ द्वारा चखकर दूसरे पदार्थों के खट्टे मीठे आदि रसों को जानता है, घ्राण—नाक द्वारा अन्य पदार्थों की सुगन्धि दुर्गन्धि को जानता है, नेत्रों-

आंखों से अन्य पदार्थों को देखता है और कर्णइन्द्रिय-कानों द्वारा अन्य पदार्थों के शब्दों को सुनता है। मन से उन ही अन्य पदार्थों के विषय में सोचता विचारता रहता है। अपने शरीर में ही ये ज्ञान की साधन रूप पांचों इन्द्रियां और द्रव्य-मन होता है, इसलिये मिथ्यादृष्टि जीव अपने शरीर को ही आत्मा समझता तथा मानता है। शरीर में रहनेवाले तथा इन्द्रियों द्वारा पदार्थों को जानने वाले अपने अमूर्तिक आत्मा को मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा नहीं जान पाता ॥ ७ ॥

तच्च प्रतिपद्यमानो मनुष्यादिचतुर्गतिसम्बन्धिशरीरभेदेन प्रतिपद्यते तत्र—

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान्मन्यते नरम् ।
तिर्यञ्चं तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥ ८ ॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।
अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥९॥

टीका—नरस्य देहो नरदेहः तत्र तिष्ठतीति नरदेहस्थस्तमात्मानं नरं मन्यते। कोऽसौ ? अविद्वान् बहिरात्मा। तिर्यञ्चमात्मानं मन्यते। कथंभूत ? तिर्यगङ्गस्थ तिरश्चामङ्ग तिर्यगङ्गं तत्र तिष्ठतीति तिर्यगङ्गस्थस्तं। सुराङ्गस्थं सुरं तथा मन्यते ॥ ८ ॥ नारकमात्मानं मन्यते। किं विशिष्टं नारकाङ्गस्थं। न स्वयं तथा नरादिरूप आत्मा स्वयं कर्मोपाधिमन्तरेण न भवति। कथं ? तत्त्वतः परमार्थतो न भवति। व्यवहारेण तु यदा भवति तदाभवतु। कर्मोपाधिकृता हि जीवस्य मनुष्यादिपर्यायास्तन्नि-

वृत्तौ निवर्तमानत्वात् न वास्तवा इत्यर्थः। परमार्थतस्तर्हि कीदृशोऽसा-वित्याह—अनन्तानन्तधीशक्ति..धीश्च शक्तिश्च धीशक्ती अनन्तानन्ते धीशक्ती यस्य। तथाभूतोऽसौ कुतः परिच्छेद्य इत्याह—स्वसंवेद्यो निरु-पाधिकं हि रूपं-वस्तुनः स्वभावोऽभिधीयते कर्मोद्यपाये चानन्तान्तधीश-क्तिपरिणत आत्मा स्वसंवेदनेनैव वेद्यः। तद्विपरीतपरिणत्यनुभवस्य संसारावस्थायां कर्मोपाधिनिमितत्वात्। अस्तु नाम तथा स्वसंवेद्यः कियत्कालमसौ न तु सर्वदा पश्चात् तद्रूपविनाशादित्याह—अचलस्थितिः अनंतानंतधीशक्तिस्वभावेनाचला स्थितिर्यस्य सः यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः ॥ ६ ॥

बहिरात्मा की पर्याय-बुद्धिको बतलाते हैं—

अन्वय- अर्थ--(अविद्वान्) अपने आपको न समझने वाला मूर्ख बहिरात्मा (नरदेहस्थं) मनुष्यके शरीर में रहने वाले (आत्मानं) आत्मा को (नरम्) मनुष्य, (तिर्यगङ्ग-स्थं) पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च के शरीरमें रहने वाले आत्मा को (तिर्यञ्चं) तिर्यञ्च, (सुराङ्गस्थं) देव के शरीर में रहने वाले आत्मा को (देवं) देव (तथा) उसी प्रकार (नारका-ङ्गस्थं) नारकी शरीर में रहनेवाले आत्मा को (नारकम्) नारकी (मन्यते) मानता है। किन्तु (तत्वतः) वास्तवमें आत्मा (स्वयं) अपने आप (तथा) वैसा-मनुष्य, देव, पशु या नारकी (न) नहीं है। वास्तवमें आत्मा (अनन्तानन्तधी-

शक्तिः) समस्त लोक अलोक के अनन्तानन्त पदार्थों को जानने की अनन्तानन्त ज्ञानशक्तिवाला है, (स्वसवेद्यः) स्वयं अपने ही ज्ञान द्वारा जानने योग्य है। यानी—अपने ज्ञान द्वारा ही आप जाना जाता है और (अचलस्थितिः) अपने चैतन्य स्वभावमें सदा स्थिर रहता है,यानी कभी अचेतन नहीं होता।

सारांश--मनुष्य, पशु-पक्षी, देव, नारक शरीर वास्तवमें आत्मा को अपनी आयु तक ठहरने के लिये मिला करते हैं, जो कि आयु समाप्त हो जाने पर आत्मा को छोड़ देने पड़ते हैं। शरीरमें से निकल जाने के बाद आत्मा किसी नये शरीर में चला जाता है और वह शरीर सड़कर, गलकर या जलकर नष्ट हो जाता है, इसलिये आत्मा वास्तवमें न मनुष्य है, न न तिर्यञ्च (पशु-पक्षी आदि) है और न देव तथा नारकी ही है। ये तो आत्मा के कुछ समय तक ठहरनेवाले शरीरों के नाम हैं। आत्मा तो वास्तवमें सदा चेतनरूप (ज्ञानदर्शन-गुणवाला- जानने देखनेवाला), अनन्तानन्त ज्ञानधारी अपने ही ज्ञान द्वारा स्वयं (खुद) ज्ञेय (जानने योग्य) है यानी-जानाजाता है परन्तु अपनी आत्मश्रद्धा से रहित मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीव उन चारों गतियों के शरीर में अस्थायी रूप से (कुछ समयतक) रहने के कारण अपने आत्मा को ही मनुष्य पशु-पक्षी आदि समझता है, जो कि गलत है॥ ८-९॥

स्वदेहे एवमध्यवसायं कुर्वाणो बहिरात्मा परदेहे कथंभूतं करोतीत्याह—

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम् ।

परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥ १० ॥

टीका—व्यापारव्याहाराकारादिना स्वदेहसदृशं परदेहं दृष्ट्वा । कथम्भूतं ? परात्माधिष्ठितं कर्मवशात्स्वीकृतं अचेतनं चेतनेनासंगतं, मूढो बहिरात्मा परत्वेन परात्मत्वेन अध्यवस्यति ॥ १० ॥

बहिरात्मा अन्य जीवों को कैसा समझता है, सो बताते हैं—

अन्वय-अर्थ— (मूढः) मूर्ख बहिरात्मा (परात्माधिष्ठितं) अन्य जीव वाले (अचेतनम्) अचेतन-जड़ (परदेहं) अन्य शरीर को (स्वसदृशं) अपने शरीर की तरह चलता फिरता खाता-पीता, बोलता-चालता, देखता-भालता (दृष्ट्वा) देख-कर जानकर [परत्वेन] अन्य आत्मा रूप से (अध्यवस्यति) जानता है ।

भावार्थ—बहिरात्मा जैसे अपने शरीर को ही आत्मा समझता है, अपने चेतन आत्मा को इस जड़ शरीर से भिन्न नहीं समझता । उसी तरह वह अन्य आत्माओं के जड शरीरों को भी अपनी तरह सब कार्य करते देखकर अन्य आत्मा रूप समझा करता है । उनके शरीरों को भी उनके आत्मा से भिन्न नहीं समझता ।

एवंविधाध्यवसायात्कि करोतीत्याह —

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्त्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥ ११ ॥

टीका—विभ्रमो विपर्यासः पुंसां वर्तते। किं विशिष्टानां ? अविदितात्मनां अपरिज्ञातात्मस्वरूपानां। केन कृत्वाऽसौ वर्तते ? स्वपराध्यवसायेन। क्व ? देहेषु। कथम्भूतो विभ्रमः ? पुत्रभार्यादिगोचरः परमार्थतोऽनात्मीयमनुपकारकमपि पुत्रभार्याधनधान्यादिकमात्मीयमुपकारकं च मन्यते। तत्सम्पत्तौ सन्तोषं, तद्वियोगे च महासन्तापमात्मवधादिकं च करोति ॥ ११ ॥

ऐसी मिथ्या-मान्यता से आगे क्या होता है सो कहते हैं—

अन्वय- अर्थ–(अविदितात्मनां पुंसां) आत्मा को न जानने वाले बहिरात्मा पुरुषों का (देहेषु) शरीरोंमें (स्वपराध्यवसायेन) अपने तथा परायेपन के विचार से (पुत्रभार्यादिगोचरः) पुत्र स्त्री आदि संबंधित (विभ्रमः) भ्रम (वर्तते) होता है।

विशेषार्थ--बहिरात्मा मिथ्या श्रद्धान के कारण जब अपने शरीर को ही अपना आत्मा समझ लेता है, तब वह अपनी इस मिथ्या श्रद्धा के कारण अपने शरीर से सम्बन्धित अन्य जीवोंको अपना या पराया समझने लगता है। जिस स्त्री के साथ उसका विवाह सम्बन्ध हुआ है उस स्त्री को अपनी स्त्री मान बैठता है, उसके सिवाय अन्य स्त्रियों को अन्य पुरुषों

की स्त्रियां मानता है। अपनी स्त्री से उत्पन्न लड़के को अपना पुत्र समझता है तथा अन्य स्त्रियों से पैदा हुए लड़कों पराये पुत्र समझता है। ऐसे ही शारीरिक सम्बन्ध के कारण माता पिता बहिन-भाई, मामा-नाना, आदि व्यक्तियोंके साथ भी वह अपना तथा परायापन मान कर राग द्वेष आदि भाव करने लगता है।

वास्तव में तो संसारमें कोई व्यक्ति किसी का नहीं है, अपना आत्मा ही अपना है, अपने आत्मा के सिवाय शेष सभी जड़ चेतन (शरीर, पुत्र, स्त्री आदि) पदार्थ पराये हैं। परन्तु बहिरात्मा इस असली बात को नहीं समझ पाता ॥११॥

एवंविधविभ्रमाच्च किं भवतीत्याह —

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥ १२ ॥

टीका— तस्माद्विभ्रमाद्बहिरात्मनि संस्कारो वासना दृढोऽविचलो जायते। किन्नामा ? अविद्यासंज्ञित अविद्या संज्ञाऽस्य संजातेति "तारकादिभ्य इतच्" येन संस्कारेण कृत्वा लोकोऽविवेकिजनः। अंगमेव च शरीरमेव। स्वं आत्मानं। पुनरपि जन्मान्तरेऽपि अभिमन्यते ॥ १२ ॥

वैसी मिथ्या मान्यता से क्या होता है, सो बतलाते हैं —

अन्वय-अर्थ—(तस्मात्) उस ही मिथ्या श्रद्धान से बहिरात्मा जीवों के (अविद्या संज्ञिता) अविद्या या अज्ञान नामक

(संस्कारः) संस्कार या धारणा अथवा भावना [दृढः जायते) दृढ मजबूत हो जाती है। (येन) जिस संस्कार या भावना से (लोकः) संसारी स्त्री-पुरुष (अङ्गमेव) शरीर को ही (पुनरपि) फिर भी-कालान्तर में भी, अन्य भवमें भी (स्वं) अपना (अभिमन्यते) मानता रहता है।

भावार्थ- मिथ्या संस्कार से ही संसारी जीव अपने शरीर को सुख देने वाले स्त्री पुरुषों को अपना हितकारी मित्र और अपने शरीर को दुख देने वाले स्त्री-पुरुषों को अपना अहित करने वाला शत्रु जन्म-जन्मान्तरों में भी समझता रहता है। इस तरह यह शारीरिक शत्रुता-मित्रता अनेक जन्मों तक चलती रहती है। उसी राग-द्वेष भाव से संसारी जीव नये नये कर्म बांधकर नरक, पशु, मनुष्य, देव गतियों में अनादि काल से भ्रमण करता आया है।

जैसे कि कमठ का जीव भगवान पार्श्वनाथ के पूर्वभव के मरुभूति वाले आत्माके साथ अनेक भवों तक वैरभाव रखकर उसको दुख देता रहा ॥ १२ ॥

एवमभिमन्यमानश्चासौ किं करोतीत्याह —

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम् १३

टीका—देहे स्वबुद्धिरात्मबुद्धिर्बहिरात्मा किं करोति ? आत्मानं युनक्ति सम्बद्धं करोति देहिनं दीर्घसंसारिणं करोतीत्यर्थः, केन ? एतेन देहेन । निश्चयात् परमार्थेन । स्वात्मन्येव जीवस्वरूपे एव आत्मधीरन्तरात्मा । निश्चयाद्वियोजयति असम्बद्धं करोति ॥ १३ ॥

अब बहिरात्मा और अन्तरात्मा का परस्परमें अन्तर दिखाते हैं —

अन्वय-अर्थ—(एतेन) इस मिथ्या संस्कार से बहिरात्मा (देहे) शरीर में (स्वबुद्धिः) अपनी बुद्धि-ज्ञान या अपने-पन की मान्यता (निश्चयात्) निश्चय से (आत्मानं) आत्मा को (युनक्ति) जोड़ता है। तथा (स्वात्मनि एव) अपने आत्मा में ही (आत्मधीः) अपने आत्मापन की श्रद्धा -भावना या ज्ञान (देहिनं) अपने आत्मा को (तस्मात्) उस शरीर से (वियोजयति) पृथक्-अलग करता है।

भावार्थ -जैसे-भूल से कोई मनुष्य किसी अन्य के लड़के को अपना समझ ले तो उसके सुख दुख में वह राग-भाव के कारण सुखी-दुखी होता है। किन्तु जब उसे अपनी भूल मालूम हो जावे तो फिर वह उससे प्रेम करना या उसे अपना मानना छोड़ देता है। इसी तरह संसारी बहिरात्मा जीव अज्ञान से शरीरको अपना मानकर उस जड़ शरीर को ही अपना आत्मा समझकर उससे राग-भाव करता है। शरीर को ही अपना आत्मा समझकर ही अन्य जीवों के साथ माता-पिता, पुत्र-

स्त्री, शत्रु मित्र आदि के रागद्वेषमयी सम्बन्ध जोड़ता है और उसी भूल से वह सुखी-दुखी होता रहता है।

जब वह अपने आत्मा को ही अपना समझ लेता है तब वह शरीर से ममता-भाव (अपनापन) छोड़देता है। उस ममता के छूटते ही संसार के अन्य जीवों तथा पदार्थों से भी उसका राग-द्वेष या शत्रु मित्र भाव हट जाता है॥ १३।

देहेष्वात्मानं याजयतश्च वहिरात्मनो दुर्विलसितोपदर्शनपूर्वक-माचार्योऽनुशयं कुर्वन्नाह—

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत्॥१४॥

टीका—जाताः प्रवृत्ताः। काः? पुत्रभार्यादिकल्पनाः। क? देहेषु कया? आत्मधिया। क? देहेष्वेव। अयमर्थः-पुत्रादिदेहं जीवनत्वेन प्रतिपद्यमानस्य मत्पुत्रो भार्येतिकल्पना विकल्पा जायन्ते। ताभिश्चा-नात्मीयाभिरनुपकारिणीभिश्च सम्पत्ति पुत्रभार्यादिविभूत्यतिशयम् आत्मनो मन्यते जगत्कर्तृ स्वस्वरूपाद् वहिर्भूतं जगत् वहिरात्मा प्राणिगणः॥ १४॥

अब शरीर को ही आत्मा समझ लेने का क्या फल होता है सो कहते हैं—

अन्वय-अर्थ—(देहेषु) शरीर में (आत्मधिया) आत्म-बुद्धि के कारण (पुत्रभार्यादिकल्पनाः) पुत्र, पत्नी आदि की कल्पनाऐं-बनावटी झूठी मान्यताऐं (जाताः) हुई हैं। (ताभिः)

उन कल्पनाओं से (आत्मनः) अपनी (सम्पत्ति) पुत्र, पत्नी आदि को सम्पत्तिरूप वहिरात्मा जीव (मन्यते) मानता है। (हा) हाय ! इस तरह (जगत्) यह संसारी जनता (हतं) मारी गई- ठगी गई है।

भावार्थ—शरीरको ही अपना आत्मा समझ लेनेका यह परिणाम होता है कि यह संसारी जीव किसी को अपना पुत्र समझता है, किसी को अपनी स्त्री, किसी को अपना पिता-माता, भाई-बहिन आदि मान लेता है और उस परिवार को वैभव मान बैठता है, ज्यों ज्यों उस परिवारमें भाई, पुत्र, पौत्र आदि की वृद्धि होती है त्यों त्यों वह अपने वैभव (सम्पत्ति) की बढ़वारी मानता है, उसका गर्व करने लगता है, उस परिवार की वृद्धि पर उसे प्रसन्नता होती है। यदि परिवार में से कोई भाई पुत्र-पौत्र आदि मर जाता है तो वह अपने को अभागा समझता है, अपनी हानि मानता है, रोता है, शोक करता है

इस तरह शरीर को आत्मा मान लेने की भूल से सारा जगत ठगा गया है।। १४ ।।

इदानीमुक्तमर्थमुपसंहृत्यात्मन्यन्तरात्मनोऽनुप्रवेशं दर्शयन्नाह—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥ १५ ॥

टीका—मूलं कारणं । कस्य ? संसारदुःखस्य । काऽसौ ? देह-

एवात्मधीः देहः कायः स एवात्मधीः । यत एवं ततस्तस्मात्कारणात् । एनां देह एवात्मबुद्धि । त्यक्त्वा अन्तः प्रविशेत् आत्मबुद्धि कुर्यात् अन्तरात्मा भवेदित्यर्थः । कथंभूतः सन् ? बहिरव्यापृतेन्द्रियः बहिर्बाह्य विषयेषु अव्यापृतान्यप्रवृत्तानीन्द्रियाणि यस्य ॥ १५ ॥

अब संसार के दुख का मूल कारण बतलाते हैं —

अन्वयार्थ- (ततः) इस कारण (संसारदुःखस्य) संसार के दुखका (मूलं) मूलकारण (देहे एव) शरीर में ही (आत्मधीः) आत्मा को समझ लेना है। इसलिये (एनां) इस मिथ्यामान्यता को (त्यक्त्वा) छोड़कर (बहिः) बाहर की बातों में (अव्यापृतेन्द्रियः) अपनी इन्द्रियोंका व्यापार—कार्य रोककर (अन्तः] अपने आत्मामें (प्रविशेत्) प्रवेश करना चाहिये।

भावार्थ—शरीरको ही आत्मा समझ लेनेसे संसारी जीव अपने शरीर से, अन्य जीवों से तथा संसार के अन्य सभी जड़ पदार्थों से राग या द्वेष करते हैं, तरह तरह के शुभ अशुभ कर्म-बन्धन करते हैं और उन कर्मों के उदय से सुखी दुखी, व्याकुल होते हैं, जन्म मरण करते हैं तथा चारों गतियों में भ्रमण किया करते हैं। इस तरह संसार के समस्त दुखों का मूल कारण शरीर को आत्मा समझ लेना ही है।

यानी—शरीरको ही आत्मा मान लेने पर शरीरके साथ ममता (यह शरीर मेरा है ऐसा भाव] होता है। फिर उस शरीर को जो भोजन-पान, वस्त्र-आभूषण आदि पदार्थ सुख

देने वाले प्रतीत होते हैं, उनसे राग-भाव होता है और जो नीरस, कड़वे, दुर्गन्धित आदि पदार्थ शरीर को अप्रिय लगते हैं उनसे द्वेष होता है। इसी तरह स्त्री-पुरुष मित्र आदि जो शरीर की सेवा करते हैं, सुख देते हैं, उनसे प्रेम होता है और जो शरीर को हानि पहुँचाते हैं उनको यह जीव अपना शत्रु मानकर द्वेष-वैर करता है। इस तरह शत्रु, मित्र, प्रिय, अप्रिय, अच्छे बुरे आदि की कल्पना और राग द्वेष, प्रेम, वैर, भय, क्रोध आदि संसार में भ्रमण और कर्म-बन्धन कराने वाले विकार भाव शरीर को ही आत्मा मान लेने के कारण होते हैं।

अन्तरात्मा आत्मन्यात्मबुद्धिं कुर्वाणोऽलब्धलाभात्संतुष्ट आत्मीयां बहिरात्मावस्थामनुस्मृत्य विषादं कुर्वन्नाह—

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम्।
तान्प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः॥१६॥

टीका—मत्तः आत्मस्वरूपात्। च्युत्वा व्यावृत्य। अहं पतितः। अत्यासक्त्या प्रवृत्तः। क्व? विषयेषु। कैः? इन्द्रियद्वारैः इन्द्रियमुखैः ततस्तान् विषयान् प्रपद्य ममोपकारका एते इत्यतिगृह्यानुसृत्य। मां आत्मानं। न वेद न ज्ञातवान्। कथं? अहमित्युल्लेखेन अहमेवाहं न शरीरादिकमित्येवं तत्त्वतो न ज्ञातवानित्यर्थः। कदा? पुरा अनादिकाले॥ १६॥

अन्तरात्मा का विचार—

अन्वयार्थ -(मत्तः) अपने आत्म-स्वरूपसे (च्युत्वा) छूट कर (अहं) मैं (विषयेषु) पांचों इन्द्रियों के विषय-भोगों में (इन्द्रियद्वारैः) पांचों इन्द्रियों द्वारा (पतितः) गिर गया फंस गया। (तान्) उन इन्द्रियोंके विषयोंको (प्राप्य) पाकर (अहम्) मैं (पुरा) पहले—अनादि काल से (माम्) अपने आपको--मैं चेतन आत्मा हूं (इति) इस प्रकार (तत्वतः) वास्तवमें (न वेद) नहीं समझा

विशेषार्थ—अन्तरात्मा विचार करता है कि मैं पहले अनादि काल से शरीर को ही आत्मा समझता रहा। स्पर्शन इन्द्रिय ने मुझे काम-क्रीड़ा (मैथुन सेवनमें) लगादिया। रसना इन्द्रियने मुझे स्वादिष्ट भोजन करने का लंलुपी बना दिया, घ्राण इन्द्रिय मुझे सुगन्धित वस्तुओं--गुलाब, चम्पा, चमेली के फूल, इत्र, चन्दन, कपूर आदि के सूंघने में फसाये रही। नेत्र इन्द्रिय ने मुझे मनोहर सुन्दर रंगीले पदार्थों के देखने भालने में लगाया और कर्ण इन्द्रिय ने रसीले, सुरीले गानेके शब्द सुनने में उलझा दिया मैं इन पांचों इन्द्रियों के विषय भोगों में ऐसा लगा रहा कि अपने आत्मा के स्वरूप को कभी समझ नहीं पाया।

अथात्मनो ज्ञप्तावुपायं दर्शयन्नाह—

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः॥ १७॥

टीका—एवं वक्ष्यामाणन्यायेन । वहिर्वाचं पुत्रभार्याधनधान्य-लक्षणान्वहिरर्थवाचकशब्दान् । त्यक्त्वा । अशेषतः साकल्येन । पश्चात् अन्तर्वाचं अहं प्रतिपादकः, प्रतिपाद्यः, सुखी, दुखी, चेतनोवेत्यादिलक्षणमन्तर्जल्पं त्यजेदशेषतः, । एप वहिरन्तर्जल्पत्याग-लक्षणः योगः स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षणः समाधिः । प्रदीपः स्वरूप-प्रकाशकः । कस्य ? परमात्मनः । कथं ? समासेन संक्षेपेण झटिति परमात्मस्वरूपप्रकाशक इत्यर्थः ॥ १७ ॥

परमात्मा के अवलोकन करनेका उपाय —

अन्वयअर्थ—[एवं] इसप्रकार सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा [वहिर्वाचं] वाहरी वातों को (त्यक्त्वा] छोड़कर [अशेषतः] पूरी तरह से [अन्तः] अन्तरङ्गवाणी को भी [त्यजेत्] छोड़ देवे (एपः) यह—अन्तरङ्ग वहिरङ्ग वचनालाप का त्याग (समासेन) संक्षेपसे (योगः] इन्द्रियों की विपयोंमें प्रवृत्ति को रोकने वाला योग (परमात्मनः) परमात्मा के स्वरूप का प्रकाशक [प्रदीपः) दीपक है ।

विशेपार्थ—संसारी जीव या तो विविध प्रकार की सांसारिक वात चीत करनेमें लगा रहता है अथवा वाहर का वोलना चालना वन्द करके अपने भीतर मन के द्वारा अनेक तरह की वातों को किया करता है, विविध प्रकार के विचारों की उधेड़ बुन में लगा रहता है । दिनभर तो वह ऐसा करता ही है,

परन्तु रात को सोते समय स्वप्न में भी ऐसे अन्तरङ्ग वहिरङ्ग वंचनालाप में लगा रहता है, क्षणभर भी अपने आत्मा के विषय में कुछ चर्चा नहीं करता। इसलिये अपने आत्मामें विराजमान परमात्मा का स्वरूप उसे कभी नहीं दिखाई देता। उस परमात्माका अनुपम सुन्दर रूप देखने का सरल उपाय यही है कि बाहरी चर्चा को छोड़कर मौन भावसे अपने मनके वचनालाप-सांसारिक विचार-धारा को भी रोक दिया जावे, इस तरह का वचन निरोध होने पर परमात्मा—शुद्ध आत्मस्वरूप का दर्शन होता है।

जैसे अन्धकारमें दीपक के प्रकाश से पदार्थों को देखा जाता है, इसी तरह आत्मा का अवलोकन करने के लिये योग (अन्तरङ्ग वहिरङ्ग वचन का रोकना] आवश्यक है ॥ १७ ॥

कुतः पुनर्वहिरन्तर्वाचस्त्यागः कर्तव्य इत्याह—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

टीका—रूपं शरीरादिरूपं यद् दृश्यते इन्द्रियैः परिच्छेद्यते मया तदचेतनत्वात् उक्तमपि वचनं सर्वथा न जानाति। जानता च समं वचनव्यवहारो युक्तो नान्येनातिप्रसङ्गात्। यच्च जानद् रूपं चेतनमात्मस्वरूपं तन्न दृश्यते इन्द्रियैर्न परिच्छेद्यते। यत एवं ततः केन सह ब्रवीम्यहम् ? ॥ १८ ॥

वचन- व्यवहार का त्याग करने के उपाय—

अन्वय अर्थ—अन्तरात्मा विचार करता है कि (मया) मेरे द्वारा इन्द्रियों से (यत्) जो (रूपं) बाहरी शरीर तथा संसारी पुद्‌गल पदार्थसमूह (दृश्यते) देखा जाता है (तत्) वह दिखाई देनेवाला अचेनत वस्तु-समूह (सर्वथा) बिलकुल (न जानाति) जानता नहीं है। और (जानन्) जानता हुआ— यानी अपने चैतन्य परिणाम को जानते हुए मुझे (रूपं) बाहरी पदार्थोंका रूप [न दृश्यते] नहीं दिखाई देता [ततः] इसलिये [अहम्] मैं [केन ब्रवीमि] किसके साथ बातचीत करूं ?

विशेषार्थ—अन्तरात्मा विचार करता है कि संसारमें अपना तथा अन्य जीवों का या तो जड़ शरीर दिखाई देता है या अन्य जड़ पदार्थ दिखाई देते हैं परन्तु वे सब ज्ञानहीन अचेतन हैं, वे मेरी आत्म-वाणी कुछ समझते नहीं हैं तो उनके साथ वार्तालाप करने से क्या लाभ ? यानी—कुछ लाभ नहीं। और जो आत्मा जानता है उसका रूप दिखाई नहीं देता, वह ज्ञानमय चेतन है, परन्तु अमूर्तिक है, ऐसी दशामें मैं किससे बातचीत करूं ?

यानी—बातचीत तो उसीके साथ की जावे जो दिखाई दे और मेरी बात चीत को समझ सके, संसार के दिखाई देने वाले जड़ पदार्थ कुछ समझते नहीं और जानने वाला आत्मा

दिखाई नहीं देता इस कारण मुझे अपना बहिरंग(बाहर) का वार्तालाप बन्द रखना चाहिये ।। १८ ।।

एवं वहिर्विकल्पं परित्यज्यान्तर्विकल्पं परित्याजयन्नाह—

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान्प्रतिपादये ।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥ १९ ॥

टीका—परैरुपाध्यायादिभिरहं यत्प्रतिपाद्यः परान् शिष्यादीनहं यत्प्रतिपादये तत्सर्वमुन्मत्तचेष्टितं मोहवशादुन्मत्तस्येवाखिलं विकल्पजालात्मकं विजृम्भितमित्यर्थः । कुत एतत् ? यदहं निर्विकल्पको यद्यस्मादहमात्मा निर्विकल्पक एतैर्वचनविकल्पैरग्राह्यः ॥ १९ ॥

अन्तरङ्ग विकल्पों को छोड़ने की प्रेरणा—

अन्वयार्थ—[यत्] जो [अहम्] मैं [परैः] अन्य गुरु अध्यापक उपाध्याय आदि व्यक्तियों के द्वारा [प्रतिपाद्यः] शिष्यरूप हूँ—प्रतिपादित करने योग्य हूं—दूसरों के द्वारा कहने योग्य हूं, अथवा मैं [परान्] अन्य व्यक्तियों को—शिष्यों को [प्रतिपादये] प्रतिपादित करता हूं—कहता हूँ—पढ़ाता हूं [तत्] वह सब बात [मे] मेरी [उन्मत्तचेष्टितं] पागलपन की चेष्टा—क्रिया है। [यत्] क्योंकि [अहम्] मैं [निर्विकल्पकः] समस्त—गुरु, शिष्य आदि विकल्पों से रहित हूं १९

भावार्थ—अन्तरात्मा विचार करता है कि मैं तथा अन्य संसारी आत्मा अनन्तज्ञानशक्तिधारी हैं, तब मैं अपने आपको किसी का शिष्य समझूं अथवा अपने आपको दूसरों का

पढ़ाने वाला गुरु मानूं, यह सब पागलपन की बात है। मैं तो एक शुद्ध निर्विकल्प आत्मद्रव्य हूँ, जिसमें न गुरु [प्रतिपादक] का विकल्प [भेदभाव] है, न मुझमें शिष्य का विकल्प है। ये गुरु-शिष्य, प्रतिपाद्य-प्रतिपादक के विकल्प शरीर के आश्रित हैं, अशुद्ध द्रव्य में हो सकते हैं।

तदेवं विकल्पातीतं स्वरूपं निरूपयन्नाह—

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

टीका—यत्शुद्धात्मस्वरूप। अग्राह्य कर्मोदयनिमित्तं क्रोधादिस्वरूपं। न गृह्णाति आत्मस्वरूपतया न स्वीकरोति। गृहीतमनन्तज्ञानादिस्वरूप। नैव मुञ्चति कदाचिन्न परित्यजति। तेन च स्वरूपेण सहितं शुद्धात्मस्वरूपं किं करोति? जानाति। किं तत्? सर्वचेतनमचेतनं वा वस्तु। कथं जानाति? सर्वथा द्रव्यपर्यायादिसर्वप्रकारेण। तदित्थम्भूतं स्वरूपं स्वसवेद्य स्वसवेदनग्राह्यम् अहमात्मा अस्मि भवामि॥ २०॥

वास्तवमें मैं क्या हूं, यह बतलाते हैं—

अन्वय-अर्थ—[अहम्] मैं [तत्] वह [स्वसंवेद्यम् अस्मि] स्वसंवेद्य यानी—स्वयं अपने द्वारा जानने योग्य—अनुभव करने योग्य हूँ, [यत्] जो [अग्राह्यं] अग्राह्य—न ग्रहण करने योग्य रागद्वेष आदि विकार भाव अथवा ज्ञानावरणआदि कर्मोंको तथा शरीर, परिवार, धन, मकान, को [न गृह्णाति],

ग्रहण नहीं करता है, [गृहीतं] ग्रहण किये हुए—अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव को [न मुञ्चति] छोड़ता नहीं है, [अपि] और [सर्वथा] सब तरह से—पूर्णरूपसे [सर्वं] समस्त—तीन कालों के लोक-अलोकवर्ती पदार्थों को [जानाति] जानता है ॥ २० ॥

भावार्थ—अन्तरात्मा अपने शुद्ध चैतन्यरूप पूर्णज्ञायक आत्मा का अनुभव करता है कि मैं शरीर, पुत्र, स्त्री, माता पिता आदि परिवार, मित्र, धन धान्य आदि अन्य चेतन, अचेतन पदार्थोंको तथा राग द्वेष, क्रोध मान, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि विकार भावों को कभी ग्रहण नहीं करता, ये सब मेरे लिये अग्राह्य हैं। न मैं कभी अपने शुद्ध चैतन्य, ज्ञायक निर्विकल्प स्वभाव को त्यागता हूँ। मैं समस्त पदार्थों का पूर्ण ज्ञाता हूं ॥ २० ॥

इत्थंभूतात्मपरिज्ञानात्पूर्वंकीदृशं मम चेष्टितमित्याह—

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात ॥२१॥

टीका—उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः पुरुषोऽयमित्युत्पन्ना भ्रान्तिर्यस्य प्रतिपत्तुस्तस्य। स्थाणौ स्थाणुविषये। यद्वद्यत्प्रकारेण। विचेष्टितं विविधमुपकारादिरूपं चेष्टितं विपरीतं वा चेष्टितं। तद्वत् तत्प्रकारेण मे चेष्टितं। क्व ? देहादिषु। कस्मात् ? आत्मविभ्रमात्। कदा ? पूर्वम् उक्तस्वरूपात्मज्ञानात्प्राक् ॥ २१ ॥

अन्तरात्मा अपनी पुरानी भूल पर विचार करता है—

अन्वय-अर्थ—[स्थाणौ] सूखे हुए वृक्षके ठूंठ में [यत्] जैसे [उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः] मनुष्य रूप में उत्पन्न हुए भ्रमकी [चेष्टितम्] चेष्टा होती है, [तद्वत्] उसी तरह [पूर्वं] पहले--मिथ्यात्व उदयके समय [देहादिषु] शरीर, पुत्र स्त्री आदि परिवार में तथा अन्य चेतन आदि पदार्थोंमें एव अपने राग द्वेष आदि विकृत भावों के विषय में [आत्मविभ्रमात्] अपने आत्माके भ्रम से [मे] मेरी [चेष्टित] गलत चेष्टा—समझ थी ।

भावार्थ—जैसे अन्धेरे में या दूर से देखने पर अपनी दृष्टि [निगाह] की निर्बलता से मनुष्य के आकार प्रकार का पेड़ का सूखा ठूंठ देखकर कोई मनुष्य उसे खड़ा हुआ मनुष्य समझ लेता है और उस भ्रम से वह उसे चोर डाकू समझकर डरता है या अपना खड़ा हुआ मित्र उसकारी समझ कर प्रसन्न होता है । उसी प्रकार मैं पहले अपने आत्मा की मिथ्या श्रद्धा से शरीर को ही आत्मा समझता था, राग द्वेष आदि विकार भावों को अपना समझता था, शरीर के सम्बन्ध से पुत्र, स्त्री, माता पिता आदि को अपना मानता था, धन मकान आदि के सम्बन्ध से अपने आपको धनवान या निर्धन सुखी दुखी आदि समझता था । वह मेरा सब झूठा भ्रम था । ऐसा आत्मदर्शी अन्तरात्मा विचार करता है ।

साम्प्रतं तु तत्परिज्ञाने सति कीदृशं मे चेष्टितमित्याह—

यथासौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे ।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥२२॥

टीका—असौ उत्पन्नपुरुषभ्रान्तिः पुरुषाग्रहे पुरुषाभिनिवेशे निवृत्ते विनष्टे सति यथा येन पुरुषाभिनिवेशजनितोपकाराद्युद्यमपरित्याग-प्रकारेण । चेष्टते प्रवर्तते । तथा चेष्टोऽस्मि तथा तदुद्यमपरित्याग-प्रकारेण चेष्टा यस्यासौ तथा चेष्टोऽस्मि भवाम्यहम् क्व ? देहादौ । किं विशिष्टः ? विनिवृत्तात्मविभ्रमः विशेषेण निवृत्त आत्मविभ्रमो यस्य क्व ? देहादौ ॥ २२ ॥

तत्वज्ञान होनेपर आत्मा की चेष्टा कैसी होती है, सो बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—परन्तु (यथा) जिस तरह (असौ) वह भ्रान्त-भ्रममें पड़ा हुआ पुरुष (स्थाणौ) पेड़ के ठूंठ के विषय में (पुरुषाग्रहे) मनुष्य रूप समझ लेने के भ्रमके (निवृत्ते) दूर हो जाने पर—मिट जाने पर (चेष्टते) चेष्टा करता है-ठीक समझता है, (तथा) उसी तरह (देहादौ) शरीर, परिवार आदि अन्य चेतन अचेतन पदार्थों के विषय में (विनिवृत्तात्म-विभ्रमः) आत्मापन का या अपनेपनका भ्रम दूर हो जाने पर (चेष्टोऽस्मि) मैं चेष्टा करता हूं यानी—ठीक समझता हूँ।

भावार्थ—स्थाणु—सूखे पेड़ के ठूंठ में अन्धेरे के कारण या अपने नेत्रों की दृष्टि की कमजोरीसे जो किसी मनुष्यके खड़े

होनेका भ्रम हुआ था, वह भ्रम जब मनुष्य का दूर हो जावे, तब न तो वह उस ठूंठ को अपना हितकारी समझ करके उससे प्रेम-राग करता है, न अपना अहितकारी समझ करके फिर उससे घृणा द्वेष करता है या डरता है। इसी तरह सम्यग्दर्शन हो जाने पर सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा का शरीर, परिवार, धन मकान आदि अन्य पदार्थों के विषय में भ्रम दूर हो जाता है, तब वह न तो शरीर को आत्मा समझता है, न परिवार आदि को, धन मकान आदिको अपना मानता है, न किसी को अपना मित्र या शत्रु समझता है। इस लिये वह किसी भी अन्य पदार्थ से न तो प्रेम करता है, न द्वेष करता है।

अथेदानीमात्मनि स्त्र्यादिलिङ्गैकत्वादिसंख्याविभ्रमनिवृत्त्यर्थं तद्विविक्तासाधारणस्वरूपं दर्शयन्नाह—

येनात्मनानुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥

टीका—येनात्मना चैतन्यस्वरूपेण इत्थंभावे तृतीया। अहमनुभूये। केन कर्त्रा? आत्मनैव अनन्येन। केन कारणभूतेन? आत्मना स्वसंवेदनस्वभावेन। क्व? आत्मनि स्वस्वरूपे। सोऽहं इत्थंभूतस्वरूपोऽहं। न तत् न नपुंसकं। न सा न स्त्री। नासौ न पुमान् अहं। तथा नैको न द्वौ न वा बहुरहं। स्त्रीत्वादिधर्माणां कर्मोत्पादितस्वरूपत्वात् ॥ २३ ॥

अन्तरात्मा का अपने विषयमें कैसा विचार होता है सो बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—[येन] जिस [आत्मना] अपने द्वारा [आत्मनि] अपने आत्मा में [आत्मना एव] अपने स्व-संवेदन से ही [आत्मना] स्वयं [अनुभूये] अनुभव करता हूँ, [सःअहम्] वह मैं हूँ।] तत् न] वह नपुंसक नहीं है। (न सा) न वह स्त्री है, [न असौ] न वह पुरुष है या पिता पुत्र आदि है, [न एकः] न वह एक है, [न द्वौ] न दो रूप है, [न वहुः] न वह वहुत रूप है ॥ २३ ॥

भावार्थ—अन्तरात्मा विचार करता है कि मैं शुद्ध चैतन्यमय निर्विकल्प आत्मा हूँ अपने आत्मस्वरूप का स्वयं अपने द्वारा आप ही अनुभव करता हूं, न मैं जड़ शरीर हूं, न मैं स्त्री पुरुष, नपुंसक हूं, न मैं एक हूँ, न अनेक हूं। ये सब भेद कल्पना (विकल्प) शरीर के निमित्त से हुआ करती है, मैं उन समस्त संकल्प विकल्पों से अतीत (रहित) हूं।

येनात्मना त्वमनुभूयसे स कीदृशः इत्याह—

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

टीका—यस्य शुद्धस्य स्वसंवेद्यस्य रूपस्य। अभावे अनुपलम्भे। सुषुप्तो यथावत्पदार्थपरिज्ञानाभावलक्षणनिद्रया गाढाक्रान्तः। यद्भावे यस्य तत्स्वरूपस्य भावे उपलम्भे। पुनर्व्युत्थितः विशेषेणोत्थितो जागरितोऽहं यथावत्स्वरूपपरिच्छित्तिपरिणत इत्यर्थः। किं विशिष्टं तत्स्वरूपं ? अतीन्द्रियं इन्द्रियैरजन्यमग्राह्यं च। अनिर्देश्यं शब्दविकल्पा-

गोचरत्वादिदंतयाऽनिदन्तया वा निर्देष्टुमशक्यम् । तदेवंविधं स्वरूपं कुतः सिद्धमित्याह तत्स्वसंवेद्यं तदुक्तप्रकारकस्वरूपं स्वसंवेदग्राह्यं अहमस्मीति ॥ २४ ॥

अन्तरात्मा अपना स्वरूप बतलाता है—

अन्वयार्थ—(अहम्) मैं (यदभावे) जिसके अभाव में यानी—जिस अपने आत्माके अनुभव न होने पर [सुषुप्तः] सोया रहा (पुनः) और फिर (यद्भावे) जिस आत्मा के अनुभव होने पर (व्युत्थितः) जागकर उठ बैठा (तत्) वह (अतीन्द्रियम्) इन्द्रियों द्वारा न जानने योग्य, (अनिर्देश्यं) वचनों द्वारा न कहने योग्य (स्वसवेद्यं) अपने ही द्वारा अनुभव में आने योग्य (अहम्- अस्मि) मैं हूँ ॥ २४ ।

भावार्थ—अन्तरात्मा विचार करता है कि जिस तरह संसारी जनता सूर्य के अभाव में अन्धकार हो जाने पर रात्रि में अपना सब काम करना छोड़ करके सो जाती है और सूर्य का उदय होने पर जागकर उठ बैठती है, अपना कार्य करने लगती है। इसी तरह मैं भी आत्म—ज्योति—(आत्म-अनुभव-सम्यग्दर्शन) के अभावमें अन्धकार में रहा, अपने आत्मा का कुछ कार्य न कर सका। अब आत्मा का अनुभव होने पर यानी—आत्म—ज्योति प्रदीप्त होने पर मैं जागा हूं। मैं (मेरा आत्मा) इन बाहरी नेत्र आदि इन्द्रियों से नहीं जाना

जाता, ये इन्द्रियां तो रूपी जड़ पदार्थों को जान सकती हैं, मेरा आत्मा तो चैतन्यमय अमूर्तिक है, वचन भी मेरा स्वरूप नहीं कह सकते क्योंकि वचन भी इन्द्रियगोचर पदार्थ को कह सकते हैं मैं तो अपने अनुभव से ही जाना जाता हूं ॥२४॥

तत्स्वरूप स्वसंवेद्यतो रागादिप्रक्षयान्न क्वचिच्छत्रुमित्रव्यवस्था भवतीति दर्शयन्नाह—

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः २५

टीका—अत्रैव न केवलमग्रे किन्तु अत्रैव जन्मनि क्षीयन्ते। के ते? रागाद्याः आदौ भवः आद्यः राग आद्यो येषां द्वेषादीनां ते तथोक्ताः किं कुर्वन्तस्ते क्षीयन्ते ? तत्त्वतो मां प्रपश्यतः। कथम्भूतं मां ? बोधात्मानं ज्ञानस्वरूपं। तत इत्यादि—यतो यथावदात्मानं पश्यतो रागादयः प्रक्षीणास्ततस्तस्मात् कारणात् न मे कश्चिच्छत्रुः न च नैव प्रियो मित्रम् ॥ २५ ॥

अब ग्रन्थकार बतलाते हैं कि आत्म-दर्शन से ही राग आदि विकार भाव नष्ट होते हैं—

अन्वयार्थ—(तत्वतः) वास्तवरूप से (बोधात्मानं) ज्ञान चैतन्यस्वरूप (माम्) मुझको (प्रपश्यतः) देखने-अनुभव करने वाले व्यक्ति के (रागाद्याः) राग, द्वेष आदि दोष (अत्रैव) इसी भव में (क्षीयन्ते) नष्ट हो जाते हैं। (ततः) इस कारण (मे) मेरा इस जगतमें (कश्चित्) कोई भी जीव

या निर्जीव पदार्थ (शत्रुः न) शत्रु नहीं है और (न प्रियः) न कोई मेरा प्यारा-मित्र है॥ २५।

भावार्थ—जब तक अपने ज्ञान दर्शन आदि महान वैभव-शाली अपने आत्मा का अनुभव न किया जावे तब तक ही आत्मा अन्य जीवोंके साथ, धन आदि जड़ पदार्थों के साथ राग द्वेष आदि करके अपना कर्मबन्धन करता है। जब अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव हो जावे तब पर-पदार्थों की ओर दृष्टि नहीं जाती इस लिये फिर किसी भी पदार्थ से न राग होता है, न द्वेष होता है। राग द्वेष न होने से न जगत में कोई अपना शत्रु होता है और न कोई मित्र होता है, सब पदार्थों में समता भाव आ जाता है। ऐसे समता भाव के होते ही कर्मों का क्षय हो जाता है॥ २५॥

यदि त्वमन्यस्य कस्यचिन्न शत्रुर्मित्रं वा तथापि तवान्यः कश्चिद्द्वेष्यतीत्याशंक्याह—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः २६

टीका-आत्मस्वरूपे प्रतिपन्नेऽप्रतिपन्ने वाऽयं लोको मयि शत्रुमित्रभावं प्रतिपद्यते ? न तावदप्रतिपन्ने। मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः। अप्रतिपन्ने हि वस्तुस्वरूपे रागाद्युत्पत्तावतिप्रसङ्गः। नापि प्रतिपन्ने यतः मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः। आत्मस्वरूपप्रतीतौ रागादिकप्रक्षयात् कथं क्वचिदपि शत्रुमित्रभावः स्यात् ॥२६॥

अन्तरात्मा विचार करता है कि यह समस्त जगत मेरा शत्रु मित्र नहीं है—

अन्वयअर्थ—अन्तरात्मा विचार करता है कि (माम्) मुझको–मेरे आत्मस्वरूपको (अपश्यन्) न देखता हुआ (अयं-लोकः) यह जगत् (न मे) न मेरा (शत्रुः) शत्रु है (च) और (न प्रियः) न प्यारा–मित्र है। तथा (माम्) मुझको मेरे शुद्ध आत्म-स्वरूप को (प्रपश्यन्) देखने जानने वाला (अयं लोकः) यह समस्त जगत (न मे शत्रुः) न तो मेरा शत्रु है और (न मे प्रियः) न मेरा कोई प्यारा–मित्र है।

भावार्थ—शत्रुता और मित्रता न तो किसी अपरिचित (बिना जाने पहचाने) व्यक्ति के साथ होती है। और उस परिचित (जाने पहचाने) व्यक्ति से भी कोई शत्रुता या मित्रता नहीं करता जोकि किसी के साथ राग तथा द्वेष आदि विकार भाव नहीं करता। तदनुसार अन्तरात्मा विचार करता है कि यह जगत यानी–जगत के सब चेतन अचेतन पदार्थ मुझ शुद्ध बुद्ध आत्मा को जानते ही नहीं तो वह मेरे साथ शत्रुता या मित्रता क्यों करेंगे अर्थात् मेरे शुद्ध स्वरूप को बिना समझे कोई भी मुझसे न राग करेगा और न कोई द्वेष (वैर) करेगा। तथा च–जब यह जगत के पदार्थ मेरे निर्वि-कार आत्म–स्वभाव को जान लेंगे तब वे मेरा वीतराग स्व-भाव समझकर न मुझसे मित्रता (प्रेम) करेंगे और न शत्रुता (द्वेष) करेंगे॥ २६॥

अन्तरात्मनो बहिरात्मत्वत्यागे परमात्मत्वप्राप्तौ चोपायत्वं दर्शयन्नाह—

त्यक्त्वैव बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसङ्कल्पवर्जितम् ॥ २७ ॥

टीका—एवमुक्तप्रकारेणान्तरात्मव्यवस्थितः सन् बहिरात्मानं त्यक्त्वा परमात्मानं भावयेत्। कथभूतं? सर्वसंकल्पवर्जितं विकल्पजालरहितं अथवा सर्वसंकल्पवर्जितः सन् भावयेत् ॥ २७ ॥

परमात्मा की भावना करने का उपाय बतलाते हैं—

अन्वय अर्थ—(एवं) इस प्रकार विचार करके (बहिरात्मानं) मिथ्या श्रद्धानमय-शरीरको ही आत्मा समझने वाले बहिरात्मापन को (त्यक्त्वाएव) छोडकर ही (अन्तरात्मव्यवस्थितः) अन्तरात्मामें व्यवस्थित-अच्छी तरह स्थिर होता हुआ (सर्वसंकल्पवर्जितम्) समस्त संकल्प विकल्पोंसे रहित (परमात्मानम्) परमात्माको (भावयेत्) भावना करे ॥२७॥

भावार्थ—ग्रन्थकार श्री पूज्यपाद आचार्य कहते हैं कि बुद्धिमान भव्य स्त्री पुरुषों को आत्म-अनुभव की महिमा जानकर आत्म-श्रद्धालु तथा आत्मज्ञानी बनकर बहिरात्मा का रूप छोड देना चाहिये और आत्माका रस अनुभव करके अन्तरात्मा बनना चाहिये। तदनन्तर परमात्मा बनने की भावना से सदा परमात्मा का ध्यान करना चाहिये।

छहढालामें श्री पं० दौलतराम जी ने यही भाव झलकाया है—

वहिरातमता हेय तजि, अन्तर-आतम हूजे।
परमातमको ध्याय निरन्तर, जो नित आनन्द पूजे ॥

यानी—वहिरात्मापन छोडकर अन्तरात्मा बनो और अन्तरात्मा बनकर परमात्माका सदा ध्यान करो जिससे नित्य आनन्द प्राप्त हो।

तद्भावनायाः फलं दर्शयन्नाह—

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् २८

टीका—योऽनन्तज्ञानात्मकः प्रसिद्धः परमात्मा सोऽहमित्येवमात्त-संस्कारः आत्तो गृहीतः सस्कारो वासना येन। कया कस्मिन् ? भावनया तस्मिन् परमात्मनि भावनया सोऽहमित्यभेदाभ्यासेन। पुनरित्यन्तर्गर्भितवीप्सार्थः। पुनः पुनस्तस्मिन् भावनया। तत्रैव परमात्मन्येव दृढसंस्कारात् अविचलवासनावशात्। लभते प्राप्नोति ध्याता। हि स्फुटम्। आत्मनि स्थितिं आत्मन्यचलतां अनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपतां वा ॥ २८ ॥

आत्मामें स्थिर होने का उपाय बतलाते हैं—

अन्वय-अर्थ–(पुनः) फिर–अन्तरात्मा बन जाने पर (तस्मिन्) उस परमात्मामें (सः अहम्) "वह परमात्मा मैं हूं" (इति) इसप्रकार से (भावनया) अपनी भावना के द्वारा

(आत्तसंस्कारः) अपना संस्कार यानी धारणा बना लेता है वह [तत्रैव] उस परमात्मा में ही (दृढसंस्कारात्) अपने दृढ संस्कार से (आत्मनि) अपने आत्मामें (स्थितिम्) स्थिरता को (लभते) पाता है, ॥२८

भावार्थ–जैसे बरगद के छोटे से बीज में विशाल छायादार वृक्ष बनने की शक्ति है इसी तरह साधारण संसारी जीवमें भी परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान (मौजूद) है। इस लिये अपने आत्मा को परमात्मा बनाने की भावना प्रत्येक आत्म-श्रद्धावान व्यक्ति को करते रहना चाहिये। सदा यह विचार रक्खे कि सोऽहं (सः अहम्)यानी वह परमात्मा मैं हूं, ऐसी भावना करते रहने से अपने आत्मा में परमात्मा बनने के संस्कार दृढ़ बन जाते हैं। उन संस्कारों के कारण विचार-धारा, अन्य ओर से हटकर आत्मामें स्थिरता लाती है २८

नन्वात्मभावनाविषये कष्टपरम्परासद्भावेन भयोत्पत्तेः कथं कस्यचित्तत्र प्रवृत्तिरित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह—

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम् ।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥२९॥

टीका—मूढात्मा बहिरात्मा। यत्र शरीरपुत्रकलत्रादिषु। विश्वस्तोऽवंचकाभिप्रायेण विश्वासं प्रतिपन्नः—मदीया एते अहमेतेषामिति बुद्धिं गत इत्यर्थः। ततो नान्यद्भयास्पदं ततः शरीरादेर्नान्यद्भ-

यास्पदं संसारदुःखत्रासस्यास्पदं स्थानम् । यतो भीतः परमात्मस्वरूप-संवेदनाद्भीतः त्रस्तः । ततो तान्यदभयस्थानं ततः स्वसंवेदनात् नान्यत् अभयस्य संसारदुःखत्रासाभावस्य स्थानमास्पदम् । सुखास्पदं ततो नान्यदित्यर्थः ॥ २९ ॥

आत्मा के लिये भय का तथा अभय का स्थान कौनसा है, सो बताते हैं—

अन्वयार्थ-(मूढात्मा) मूर्ख वहिरात्मा (यत्र) जिस शरीर, स्त्री, पुत्र, धन मकान आदि पदार्थों में तथा विषय भोगों में (विश्वस्तः) ये मेरे हैं, ये मेरे हितकारी हैं, इस तरह का निश्चित विश्वास श्रद्धान कर बैठा है (ततः) उन अन्य बाहरी पदार्थों से (अन्यत्) अन्य कोई (भयास्पदं न) भय का स्थान नहीं है, और (यतः) जिस परमात्मा से (भीतः) वह डरता है (ततः) उस परमात्मा से (अन्यत्) अन्य कोई (आत्मनः) आत्मा का (अभयस्थानम्) अभय होने का स्थान (न) नहीं है ॥ २९ ॥

भावार्थ - दूसरे से मोह ममता करने वाला व्यक्ति मूर्ख होता है क्योंकि अन्य पदार्थ कभी अपना हो नहीं सकता। वहिरात्मा सदा जड़ शरीर को अपना समझता है इसी कारण उसकी रक्षा करने के लिये सदा भयभीत रहता है, उसे हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिये चिन्तातुर रहता है। पुत्र-स्त्री, पिता-भाई माता-बहिन, धन-मकान, आदि अन्य चेतन अचेतन पदार्थों को अपना समझता है, सो उनकी रक्षा करने के लिये सदा

भयभीत और चिन्तातुर बना रहता है। परन्तु समस्त दुख संकटों, चिन्ताओं और भयों से रहित परमात्मा पद है उससे या उसके पाने के लिये तप, त्याग, संयम, आत्मध्यान आदि जो कि अपनी ही वस्तु है उपसे यह बुद्धिहीन बहिरात्मा डरता है! कितना आश्चर्य है।

तस्यात्मनः कीदृशः प्रतिपत्त्युपाय इत्याह—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥

टीका—संयम्य स्वविषये गच्छन्ति निरुध्य। कानि? सर्वेन्द्रियाणि पञ्चापीन्द्रियाणि। तदनन्तरं स्तिमितेन स्थिरीभूतेन। अन्तरात्मना मनसा। यत्स्वरूपं भाति। किं कुर्वतः? क्षणं पश्यतः क्षणमात्रमनुभवतः बहुतरकालं मनसा स्थिरीकर्तुमशक्यत्वात् स्तोककालं मनोनिरोधं कृत्वा पश्यतो यच्चिदानन्दस्वरूपं प्रतिभाति तत्तत्त्वं तद्रूपं स्वरूपं परमात्मनः ॥ ३० ॥

परमात्म-तत्व का अनुभव कब होता है, यह बतलाते हैं —

अन्वयार्थ - (सर्वेन्द्रियाणि) अपनी समस्त-स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र और कान—इन्द्रियोंको (संयम्य) उनके इष्ट प्रिय विषयभोगों से रोककर (स्तिमितेन) स्थिर चित्त हो—मानसिक संकल्प विकल्पों के बिना (अन्तरात्मना) अपने अन्तरात्मा के द्वारा (यत्क्षणं) जो क्षण (पश्यतः) अपने

आपको देखने वाले यानी-अनुभव करने वाले व्यक्ति के (भाति) प्रतिभासित होता है, (परमात्मनः) परमात्मा का (तत्तत्वं) वह ही स्वरूप है।

भावार्थ -इन्द्रियां प्रतिक्षण अपने किसी न किसी बाहरी विषयों में आत्मा की प्रवृत्ति को लगाए रहती हैं, यदि कभी बाहरी दीखने वाली पांचों इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं होती, तो मनमें अनेक तरह के सांसारिक विचार उठते रहते हैं, इस तरह आत्मा क्षण भर भी अपने चिदानन्द चैतन्य स्वरूप को नहीं देख पाता इसीलिये उसे अपना आनन्द अनुभव में नहीं आता। यदि आत्मा क्षण भर के लिये भी अपनी इन्द्रियों और मन की प्रवृत्ति को रोककर अपने आत्मा के स्वरूप-चिन्तन में लगादे तो उसको अपने परम शुद्ध आत्मा का अनुपम आनन्दमय अनुभव हो जावे ॥ ३०

कस्मिन्नाराधिते तत्स्वरूपं प्राप्तिर्भविष्यतीत्याशङ्कयाह—

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ३१

टीका—यः प्रसिद्धः पर उत्कृष्ट आत्मा स एवाहं। योऽहं यः स्वसंवेदनेन प्रसिद्धोऽहमन्तरात्मा स परमः परमात्मा। ततो यतो मया सह परमात्मनोऽभेदस्ततोऽहमेव मया उपास्य आराध्यः। नान्यः कश्चिन्मयोपास्य इति स्थितिः एवं स्वरूप एवाराध्याराधकभावव्यवस्था।

अब यह कहते हैं कि मैं ही उपास्य परमात्मा हूं—

अन्वयअर्थ—अन्तरात्मा विचारता है कि (यः) जो (परात्मा) परमशुद्ध परमात्मा है (सः एव) वह ही (अहम्) मैं हूँ तथा (यः) जो (अहम्) मैं हूं (सः परमः) वह परम आत्मा है, (ततः) इसकारण (मया) मेरे द्वारा -मुझसे (अहम् एव) मैं ही (उपास्यः) उपासना-ध्यान करने योग्य हूं, (अन्यः कश्चित् नः) कोई अन्य पदार्थ उपासना करने योग्य नहीं है, (इति] ऐसी [स्थितिः] परिस्थिति-व्यवस्था है।

भावार्थ-अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप का ही अनुभव करने वाला परमात्मा है और सांसारिक विषय-भोगों में भटकने वाला, व्याकुल बना हुआ संसारी, दुखी बहिरात्मा है। यदि बाहरी दृष्टि को छोड़कर संसारी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में निमग्न होकर अपने कर्म मैल को बिलकुल अपने आत्मध्यान द्वारा धो डालता है तो वही संसारी दुखी-व्याकुल आत्मा परम-शुद्ध, अनन्त अक्षय सुखी परमात्मा बन जाता है। इस कारण वास्तव में अन्तरात्मा का यह चिन्तन बिलकुल ठीक है कि 'जो मैं हूँ सो परमात्मा है और जो परमात्मा है सो मैं हूँ।' परमात्मा मेरे शुद्ध स्वरूप के सिवाय अन्य कोई व्यक्ति नहीं है।

एतदेव दर्शयन्नाह—

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम् ३२

टीका—मामात्मानमहं प्रपन्नोऽस्मि भवामि किं कृत्वा ? प्रच्याव्य व्यावर्त्य केभ्यः ? विषयेभ्यः । केन कृत्वा ? मयैवात्मस्वरूपेणैव करणात्मना । क्व स्थितं माम् प्रपन्नतोऽहं ? मयि स्थितं आत्मस्वरूप एव स्थितम् । कथम्भूतं मां ? बोधात्मानं ज्ञानस्वरूपम् । पुनरपि कथम्भूतम् परमानन्दनिर्वृतं परमश्चासावानन्दश्च सुखं तेन निर्वृतं सुखीभूतम् अथवा परमानन्दनिर्वृतोऽहम् ॥ ३२ ॥

अब आत्म-चिन्तन की विधि दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ-(विषयेभ्यः) पांचों इन्द्रियों के विषय-भोगों से (माम् मुझको यानी अपने आप को (प्रच्याव्य) छुड़ाकर (मया एव) मेरे ही द्वारा -अपने आप (मयि) मुझमें (स्थितम्) विद्यमान-मौजूद (परमानन्दनिर्वृतम्) परम-अनुपम आनन्द से भरपूर (बोधात्मानम्) ज्ञानमय-शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा को (अहम्) मैं (प्रपन्नः अस्मि) प्राप्त हुआ हूँ ।

भावार्थ- अन्तरात्मा विचारता है कि अनन्तसुख और अनन्त ज्ञान से परिपूर्ण शुद्ध चैतन्यमय आत्मा मुझमें है, वह मेरे ही प्रयत्न से मुझे तब मिल सकता है जब मैं बाहर से अपनी प्रवृत्ति भीतर करूं । इस लिये मैं बाहरी विषय-भोगों से अपने आपको हटाकर अपने परम आनन्द परम ज्ञानमय आत्मा को, जो कि मेरे भीतर ही विराजमान है, स्वयं अपने द्वारा प्राप्त हुआ हूँ ॥ ३२ ॥

एवमात्मानं शरीराद्भिन्नं यो न जानाति तं प्रत्याह—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते न स निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः ॥३३॥

टीका—यः प्रतिपन्नो देहात्परं भिन्नमात्मानमेवमुक्तप्रकारेण न वेत्ति । किं विशिष्टम ? अव्ययं अपरित्यक्तानन्तचतुष्टयस्वरूपम् । स प्रतिपन्नान्न निर्वाणं लभते । किं कृत्वा ? तप्त्वाऽपि । किं तत् ? परमं तपः ॥ ३३ ॥

अव ग्रन्थकार कहते हैं कि भेद -विज्ञान के विना मुक्ति नहीं मिलती—

अन्वयार्थ-[एवं] इस तरह से [यः] जो पुरुष [देहात्] अपने शरीर से [परम्] अलग-भिन्न [अव्ययम्] अविनाशी [आत्मानम्] अपने आत्मा को [न वेत्ति] नहीं जानता है- अनुभव नहीं करता है, [सः] वह मनुष्य [परमम्] उत्कृष्ट [तपः] बहिरङ्ग तप को [तप्त्वा अपि] तप करके भी [निर्वाणम्] मोक्ष को [न लभते) नहीं पाता है ।

भावार्थ-जो व्यक्ति पहले कहे हुए ढंग से शरीरसे भिन्न अपने आत्मा का स्वयं अनुभव तो न करे परन्तु बाहर से बहुत कठोर तपस्या करता रहे, महान अनशन-उपवास करता रहे, शर्दी-गर्मी आदि की परिषह सहन करता रहे, तो उसको कभी मुक्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि मुक्ति पाने के योग्य उसके आत्म-ध्यान नहीं है ॥ ३३ ॥

ननु परमतपोऽनुष्ठायिनां महादुःखोत्पत्तितो मनःखेदसद्भावात्कथं निर्वाणप्राप्तिरिति वदन्तं प्रत्याह—

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ३४

टीका—आत्मा च देहश्च तयोरन्तरज्ञानं भेदज्ञानं तेन जनितश्चासावाल्हादश्च परमप्रसत्तिस्तेन निर्वृतः सुखीभूतः सन् तपसा द्वादशविधेन कृत्वा। दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि दुष्कर्मणो रौद्रस्य विपाकमनुभवन्नपि न खिद्यते न खेदः गच्छति ॥ ३४ ॥

अब यह बतलाते हैं कि आत्मध्यानी तपस्वी मुनि को शरीर के कष्टों का अनुभव नहीं होता -

अन्वय-अर्थ- (आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हाद निवृतः) आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान से उत्पन्न परम आल्हाद-प्रसन्नता से भरपूर साधु (तपसा) तपश्चरण के द्वारा (घोरं) कठिन-भयानक (दुष्कृतं) शारीरिक कष्टों को (भुञ्जानःअपि) भोगता हुआ भी (न खिद्यते, खेदखिन्न - दुखी नहीं होता।

भावार्थ - जिस मुनि की विचारधारा—मन की एकाग्रता अपने आत्मरस का अनुभव कर रही है। अपने आत्मा में तन्मय है उसको अपने शरीर पर आये हुये भूख, प्यास शर्दी गर्मी आदि महान कष्ट भी अनुभव नहीं होते। क्योंकि मन की प्रवृत्ति एक ही ओर लगा करती है। यदि मन शरीर की ओर ही लगा हो तब तो शरीर के कष्टों का अनुभव होता रहेगा और जब शरीर की ओर से हट करके चित्त की प्रवृत्ति

आत्मचिन्तन में लगी हो तो उस समय शारीरिक कष्टों का अनुभव नहीं हो सकता ॥ ३४ ॥

खेदं गच्छतामात्मस्वरूपोपलम्भाभावं दर्शयन्नाह—

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः॥ ३५ ॥

टीका—रागद्वेषादय एव कल्लोलास्तैरलोलमचञ्चलमकलुषं वा यन्मनोजलं मन एव जलं मनोजलं यस्य मनोजलम् यन्मनोजलम् । स आत्मा । पश्यति । आत्मनस्तत्त्वमात्मनः स्वरूपम् । स तत्त्वम् । स आत्मदर्शी तत्त्वं परमात्मस्वरूपम् । नेतरो जनः (अन्यः अनात्मदर्शी जनः) तत्त्वं न भवति ॥ ३५ ॥

मन से आत्मा का अनुभव कब होता है, यह बताते हैं—

अन्वयार्थ-(यत् मनोजलम्) जिस पुरुषका मन रूपी जल (रागद्वेषादिकल्लोलैः)राग, द्वेष, मोह, मद, क्रोध, लोभ, माया आदि की लहरों से (अलोलं) चञ्चल नहीं है, (सः) वह मनुष्य (आत्मनः)अपने आत्मा के (तत्त्वं) वास्तविक स्वरूप को अपने निर्मल मन में (पश्यति) देख लेता है । (इतरः) अन्य (जनः) मनुष्य (तत् तत्त्वं) उस आत्माके स्वरूप को (न) नहीं देख पाता।

भावार्थ--जल भी दर्पणकी तरह परछाई झलकाने वाला पदार्थ है इसी कारण आकाश में उड़ते हुए पक्षी, सूर्य, चन्द्र तथा आस पास के मकान, वृक्ष आदि जल में साफ दिखाई

देते हैं, पानी के तालाब के किनारे खड़ा हुआ मनुष्य भी अपना सारा शरीर तालाब के पानी में देख सकता है परन्तु वायु के वेग से जिस समय तालाब में लहरें उठ रही हों तब कोई भी किनारे का पदार्थ पानी में ठीक दिखाई नहीं देता इसी बात को ग्रन्थकार मन को जल का रूपक देकर बतलाते हैं कि जब मनरूपी जल में राग द्वेष काम क्रोध मान माया लोभ आदि दुर्भावों की लहरें न उठ रही हों, मन स्वच्छ अकम्प हो तब ही उसमें अपने आत्मा का निर्मल स्वरूप दिखाई देता है। जब मनमें दुर्भावों की लहरें उठ रही हों तब उसमें आत्मा का स्वरूप दिखाई नहीं देता ॥ ३५ ॥

किं पुनस्तत्त्वशब्देनोच्यत इत्याह—

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः ।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥ ३६ ॥

टीका—अविक्षिप्तं रागाद्यपरिणतं देहादिनाऽऽत्मनोऽभेदाध्यवसाय-परिहारेण स्वस्वरूप एव निश्चलतां गतम् इत्थम्भूतं मनः तत्त्वं वास्तवं रूपमात्मनः। विक्षिप्तं उक्तविपरीतं मनो भ्रान्तिरात्मस्वरूपं न भवति यत एवं तस्मात् धारयेत किं तत्? मनः। कथम्भूतम्? अविक्षिप्तं। विक्षिप्तं पुनस्तत् नाश्रयेन्न धारयेत् ॥ ३६ ॥

अब कहते हैं कि शुद्ध मन ही आत्मा का स्वरूप है—

अन्वयार्थ- (अविक्षिप्तं) मोह-मिथ्यात्व और राग द्वेष आदि के योग से रहित (मनः) मन (आत्मनः) आत्मा का

(तत्त्वं) आत्मा का स्वभाव है और (विक्षिप्तं) मोह तथा राग द्वेषसे व्याकुल मन (भ्रान्तिः) आत्माकी भ्रान्ति यानी भ्रम है। (ततः) इस लिये (अविक्षिप्तं) राग द्वेष मोह से रहित शुद्ध मन (धारयेत्) बनाना चाहिये, (विक्षिप्तं) राग द्वेष मोह आदि दुर्भावों से मैला मन (न) नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—मनमें भ्रम तथा क्षोभ यानी व्याकुलता तब तक अवश्य होती रहती है जब तक मन में मिथ्यात्व (मिथ्या-श्रद्धान) के कारण अपने आत्मा का, अन्य तत्वों का, देव, शास्त्र गुरु का श्रद्धान न हो, शरीरमें आत्मा का श्रद्धान हो तथा तीव्र राग द्वेष आदि विकार भावों के कारण व्याकुलता मौजूद हो। उसी भ्रम और क्षोभ से मनमें आत्मा के स्वरूप का अनुभव नहीं होता। इस कारण आत्मा का अनुभव करने के लिये मनमें राग द्वेष मोहका विक्षेप नहीं लाना चाहिये।

कुतः पुनर्मनसो विक्षेपो भवति कुतश्चाविक्षेप इत्याह—

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते॥ ३७॥

टीका—शरीरादौ शुचिस्थिरात्मीयादिज्ञानान्यविद्यास्तासामभ्यासः पुनः पुनः प्रवृत्तिस्तेन जनिताः संस्कारा वासनास्तैः कृत्वा। अवशं विषयेन्द्रियाधीनमनात्मायत्तमित्यर्थः। क्षिप्यते विक्षिप्तं भवति मनः।

तदेव मनः ज्ञानसंस्कारैरात्मनः शरीरादिभ्यो भेदज्ञानाभ्यासैः । स्वतः-स्वयमेव । तत्त्वे आत्मस्वरूपे अवतिष्ठते ॥ ३७ ॥

अब यह बात बताते हैं कि मनमें विक्षेप क्यों आते हैं—

अन्वयार्थ-(मनः) मन (अविद्याभ्याससंस्कारैः) अज्ञान के अभ्यास के संस्कारों द्वारा (अवशं) अपने वशमें न रह-कर (क्षिप्यते)इन्द्रियों के विषय भोगोंमें फंस जाता है। (तत्-एव) वही मन (ज्ञानसंस्कारैः) आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान के संस्कारों से (स्वतत्त्वे) अपने आत्म-स्वरूपमें (अव-तिष्ठते) ठहर जाता है।

भावार्थ-शरीर को ही आत्मा समझ लेने का नाम 'अज्ञान' है। उस अज्ञान का अभ्यास (आदत) होते रहने से मनमें ऐसे संस्कार जम जाते हैं जिससे जीव की बुद्धि अपने आत्मा को नहीं समझ पाती। इस कारण मन अपने आत्मा के अधीन नहीं रह पाता। वह शरीर के पोषण में, इन्द्रियों के प्रिय विषय भोगों में लगा रहता है। उसी मन पर शरीर और आत्मा को भिन्न भिन्न समझने वाले भेद-विज्ञान के संस्कार जब जम जाते हैं तब मन अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव करनेमें लग जाता है।

चित्तस्य विक्षेपेऽविक्षेपे च फलं दर्शयन्नाह—

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः ।

नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥३८॥

टीका—अपमानो महत्वखंडनं अवज्ञा च स आदिर्येषां मदेर्ष्यामात्सर्यादीनां ते अपमानदयो भवन्ति । यस्य चेतसो विक्षेपो रागादिपरिणतिर्भवति । यस्य पुनश्चेतसो न क्षेपो विक्षेपो नास्ति । तस्य नापमानादयो भवन्ति ॥ ३८ ॥

अब यह बतलाते हैं कि जीव में अपमान आदि भाव क्यों होते हैं—

अन्वय-अर्थ (यस्य) जिस मनुष्य के (चेतसः) मन का या मनमें (विक्षेपः) मोह, राग, द्वेष का विकार है (तस्य) उस मनुष्य के (अपमानदयः) अपमान या अवज्ञा करना, अहंकार करना, ईर्ष्या करना, क्रोध करना इत्यादि भाव होते हैं। और (यस्य) जिस मनुष्य के (चेतसः) मन में (क्षेपः) विक्षेप-द्वेषादि (न) नहीं है (तस्य) उसके (अपमानादयः) अपमान, अहंकार, ईर्ष्या, लोभ आदिक दुर्भाव (न) नहीं होते ।

भावार्थ मन में मिथ्यात्व और राग द्वेष होने के कारण संसारी जीव दूसरे जीव का अपमान (बेइज्जती) करता है तथा अन्य व्यक्ति के व्यवहार से अपना अपमान हुआ समझता है, अपना अभिमान दिखाता है, अन्य जनता से ईर्ष्या (अदेख-सका भाव यानी-दूसरे की बढ़वारी से जलन) आदि करता है, दूसरों को धोखा देने के लिये छल कपट करता है, अन्य पदार्थों को-शरीर, परिवार, धन, सम्पत्ति को अपना

समझता है, डरता है, डराता है, स्वयं रोता है, दूसरों को रुलाता है, इत्यादि चेष्टाऐं करता है। जब मन में मिथ्यात्व और राग द्वेष नहीं रहते तब ये अपमान, अहंकार, ईर्ष्या आदि दुर्भाव मनमें नहीं आने पाते॥ ३८॥

अपमानादीनां चापगमे उपायमाह—

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्॥

टीका—मोहान्मोहनीयकर्मोदयात्। यदा प्रजायेते उत्पद्येते। कौ रागद्वेषौ। कस्य? तपस्विनः। तदैव रागद्वेषोदयकाल एव। आत्मानं स्वस्थं वाह्यविषयाद्व्यावृत्तस्वरूपस्थं भावयेत्। शाम्यतः उपशमं गच्छतः। राग-द्वेषौ। क्षणात् क्षणमात्रेण ॥ ३९॥

राग द्वेष को शान्त करने का उपाय—

अन्वयार्थ- (यदा) जिस समय (तपस्विनः) तपस्या करने वाले साधु के (मोहात्) शारीरिक, शिष्य परिवारके या संसार के मोह से (राग द्वेषौ) राग-प्रेम, द्वेष—अप्रेम या वैरभाव (प्रजायेते) उत्पन्न हों, (तदा एव) उस ही समय (आत्मानं) अपने आत्मा को (स्वस्थं) अपने स्वरूपमें स्थित करके (भावयेत्) भावना, करे, तो (क्षणात्) क्षण भर में वे राग और द्वेष भाव (शाम्यतः) शान्त हो जाते हैं।।३९॥

भावार्थ-तपस्वी साधु को मोह भाव से दूर रह कर तपस्या करनी चाहिये। यदि कभी किसी मुनि को अपने शरीर

के मोह के कारण अथवा अपने शिष्य या गुरु के वियोग के कारण या किसी दूसरे व्यक्ति के दुर्वचन आदि के कारण मन में राग भाव या द्वेष भाव उत्पन्न हो जावे तो उस तपस्वी मुनि को उसी समय अपने दुर्भावों से रहित अपने शुद्ध आत्मा के चिन्तनमें लग जाना चाहिये। आत्मस्वरूपकी भावना करते ही राग द्वेष तत्काल शान्त हो जाते हैं॥ ३९ ॥

तत्र रागद्वेषयोर्विषयं विपक्षं च दर्शयन्नाह—

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्धया तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

टीका—यत्रात्मीये परकीये वा काये। वा शरीरेन्द्रियविषय-सङ्घाते। मुनेः प्रेम स्नेहः। ततः कायात् प्रच्याव्य व्यावर्त्य। देहिनं आत्मानम्। कया ? बुद्धया विवेक-ज्ञानेन। पश्चात्तदुत्तमे काये तस्मात् प्रागुक्तवकायादुत्तमे चिदानन्दमये। काये आत्मस्वरूपे। योजयेत्। कया कृत्वा ? बुद्धया अन्तर्दृष्ट्या। ततः किं भवति ? प्रेम नश्यति कायस्नेहो न भवति॥ ४० ॥

शरीर से मोह छुड़ाने का उपाय—

अन्वयार्थ- (यत्र काये) अपने जिस शरीरमें (मुनेः) मुनि को (प्रेम राग भाव हो जावे तो (ततः) उस शारीरिक राग भाव से (देहिनम्) अपने आत्मा को (प्रच्याव्य) हटा

करके (बुद्ध्या) शरीर और अपने आत्मा को पृथक् पृथक् समझने वाले भेद-विज्ञान से (तदुत्तमे काये) उस आत्मा के उत्तम शरीर में यानी-भौतिक शरीर-रहित सिद्धपर्यायमें (योजयेत्) जोड़ देवे-विचारधाराको लगादे। इससे (प्रेम) शारीरिक राग (नश्यति) नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—कभी किसी कारणसे मुनिको यदि अपने शरीरमें राग भाव पैदा हो जावे तो मुनि को इस रक्त, मांस, हाड़, चर्वी, मल मूत्र से भरे अपवित्र, घृणित, दुर्गन्धित शरीर से अपने चैतन्यमय शुद्ध आत्मा को अलग समझ कर इस शरीर के मोह भाव को दूर कर देवे। तथा अपना ध्यान अपने आत्मा के शुद्ध अशरीरी सिद्ध पर्यायरूप निराकार शरीर के चिन्तन में लगा दे। ऐसा चिन्तवन करने से वह शरीर का मोह दूर हो जाता है ॥ ४० ॥

तस्मिन्नष्टे किं भवतीत्याह—

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ४१

टीका—आत्मविभ्रमजं आत्मनो विभ्रमोऽनात्मशरीरादावात्मेति ज्ञानं। तस्माज्जातं यत् दुःखं तत्प्रशाम्यति। कस्मात् ? आत्मज्ञानात् शरीरादिभ्यो भेदेनात्मस्वरूपवेदनात्। ननु दुर्धरतपोऽनुष्ठानान्मुक्ति सिद्धेरतस्तद्दुःखोपशमो न भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह-नेत्यादि। तत्र आत्मस्वरूपे अयताः अयत्नपराः। न निर्वान्ति न निर्वाणं

गच्छंति सुखिनो वा न भवन्ति । कृत्वापि तप्त्वाऽपि । किं तत् ? परमं तपः दुर्द्धरानुष्ठानम् ॥ ४१ ॥

भेद-विज्ञान के विना तपस्या करना निष्फल है—

अन्वयार्थ- (आत्मविभ्रमजं) आत्मा के विभ्रम से उत्पन्न हुआ दुख (आत्मज्ञानात्) आत्मा के भेद-ज्ञान से (प्रशाम्यति) शान्त हो जाता है, मिट जाता है। (तत्र) उस भेदज्ञान प्राप्त करने के विषयमें (अयताः) तत्पर न रहने वाले मुनि (परमं तपः) उत्कृष्ट घोर तपस्या (कृत्वा अपि) करके भी (न निर्वान्ति) निर्वाण प्राप्त नहीं कर पाते ॥ ४१ ॥

भावार्थ- जब तक शरीर और आत्मा का भेद-ज्ञान (आत्मा और शरीर को पृथक् पृथक् समझनेकी श्रद्धा तथा ज्ञान) नहीं होता, तब तक संसारी जीव को आत्मा के विषय में अनेक तरह के भ्रम होने के कारण शरीरको ही आत्मा मान लिया जाता है। शरीर पौद्गलिक होने से आधि (चिन्ता आदि) और व्याधि (शारीरिक रोग) और उपाधि (अशुभ कर्म उदय से) से आत्मा को अनेक तरह के दुख देकर व्याकुल करता है। जब आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को जान कर शरीर को अपना नहीं समझता तब उस भेदविज्ञानी को उसका शरीर दुखजनक नहीं रहता। इस कारण जो मुनि भेदविज्ञानी

नहीं होते वे कठोर तप करके भी मुक्त नहीं हो पाते। यानी-भेदज्ञान के विना तपस्या लाभदायक नहीं है। ॥ ४१ ॥

तच्च कुर्वाणो वहिरात्मा अन्तरात्मा च किं करोतीत्याह—

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ४२

टीका— देहे उत्पन्नात्ममतिर्वहिरात्मा। अभिवाञ्छति अभिलषति। किं तत् ? शुभं शरीरं। दिव्यांश्च उत्तमान् स्वर्गसम्वधिनो वा विषयान् अन्तरात्मा किं करोतीत्याह--तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्। तत्त्वज्ञानी विवेकी अन्तरात्मा। ततः शरीरादेः। च्युतिं व्यावृत्तिं मुक्तिरूपां अभिवाञ्छति ॥ ४२ ॥

वहिरात्मा की और अन्तरात्मा की भावना—

अन्वयार्थ-[देहे] शरीर में [उत्पन्नात्ममतिः] आत्माकी समझ वाला मनुष्य [शुभं] अच्छा सुन्दर [शरीरं] शरीर [च] और [दिव्यान्] स्वर्गों के [विषयान्] विषय-भोगों को [अभिवाञ्छति] चाहता है। तथा [तत्त्वज्ञानी] आत्मतत्व का ज्ञानी अन्तरात्मा [ततः] शरीर से [च्युतिम्] छुटकारे को-मुक्ति को चाहता है।

भावार्थ—बहिरात्मा शरीर को ही आत्मा समझता है इस लिये वह अपने लिये सुन्दर दिव्य शरीर और इन्द्रियों को प्रिय स्वर्गों के विषय भोग पाने की इच्छा किया करता है। परन्तु आत्म-द्रष्टा अन्तरात्मा अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को सम-

रहता है, जो कि एक बार प्रगट हो जाने पर फिर कभी नष्ट नहीं होता, जब कि शरीर तथा इन्द्रियों के विषय भोग नष्ट होते रहते हैं। इस लिये सम्यग्दृष्टि इस नश्वर शरीर से सदा के लिये छूटना चाहता है॥ ४२।

तत्त्वज्ञानीतरयोर्बन्धकत्वाबन्धकत्वे दर्शयन्नाह—

परत्राहंमतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः॥

टीका—परत्र शरीरादौ अहम्मतिरात्मबुद्धिर्बहिरात्मा। स्वस्मादात्मस्वरूपात् च्युतो भ्रष्टः सन्। बध्नाति कर्मबन्धनबद्धं करोत्यात्मानं। असंशयं यथा भवति तथा नियमेन बध्नातीत्यर्थः। स्वस्मिन्नात्मस्वरूपे अहम्मतिः बुद्धोऽन्तरात्मा। परस्माच्छरीरादेः च्युत्वा पृथग्भूत्वा। मुच्यते सकलकर्मबन्धरहितो भवति॥ ४३॥

बन्ध का और मोक्ष का कारण—

अन्वयार्थ-[स्वस्मात्] अपने आत्माकी श्रद्धा से--अनुभव से [च्युतः] गिरा हुआ या छूटा हुआ और [परत्र] अपने आत्मा से भिन्न जड़ शरीर में [अहम्मतिः] अहम् मन्यता-यानी मैं 'शरीर रूप हूँ' ऐसी श्रद्धा और ज्ञान वाला जीव [असंशयम्] निःसन्देह-निश्चय से [बध्नाति] कर्मबन्धन से बन्धता है। [परस्मात्] शरीर में अपने आत्मा के श्रद्धान से [च्युत्वा] छूट करके [स्वस्मिन्] अपने आत्मामें [अहम्-

मतिः) 'मैं हूं' ऐसी श्रद्धा रखने वाला (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (मुच्यते) कर्म-बन्धन से छूट जाता है।

भावार्थ-जैसे किसी अन्य मनुष्यके घरमें घुस कर उसको अपना समझने वाला व्यक्ति चोर समझा जाता है और बन्दी-घर (जेल) में डाल दिया जाता है, इसी तरह शरीर को, जो कि पर-पदार्थ है, जड़ है, अपना आत्मा समझने वाला बहिरात्मा कर्मों के दृढ़-बन्धन से बन्ध कर संसार के बन्दी-घर (जेल)में पड़ा रहता है। और जो विवेकशील बुद्धिमान व्यक्ति अपने ही घरमें रहता, है उसे जेल में नहीं जाना पड़ता । इसी तरह जो बुद्धिमान अन्तरात्मा अपने चिन्मूर्ति आत्मा को ही अपना समझता है, शरीर, परिवार, धन आदि अन्य पदार्थों से ममता (मेरापन) हटा लेता है, वह कर्म-बन्धन से छूट कर सदा के लिये स्वतन्त्र सुखी बन जाता है। ॥ ४३ ॥

यत्राहम्मतिर्बहिरात्मनो जाता तत्तेन कथमध्यवसीयते ? यत्र-चान्तरात्मनस्तत्तेन कथमित्याशंक्याह—

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते ।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥४४॥

टीका—दृश्यमानं शरीरादिकं। किं विशिष्टं ? त्रिलिङ्गं त्रीणि स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणानि लिङ्गानि यस्य तत् दृश्यमानं त्रिलिङ्गं सत् मढो बहिरात्मा। इदमात्मतत्त्वं त्रिलिङ्गं मन्यते दृश्यमानादभेदाध्यवसायेन । यः पुनरवबुद्धोऽन्तरात्मा स इदमात्मतत्त्वमित्येवं

मन्यते । न पुनस्त्रिलिङ्गतया । तस्याः शरीरधर्मतया आत्मस्वरूप-त्वाभावात् । कथम्भूतमिदमात्मस्वरूपं ? निष्पन्नमनादिसंसिद्धम्, तथा शब्दवर्जितं विकल्पाभिधानाऽगोचरम् ॥ ४४ ॥

आत्माके विषयमें बहिरात्मा और अन्तरात्मा क्या समझता है, सो बतलाते हैं–

अन्वयार्थ– (मूढः) मूर्ख बहिरात्मा जीव बाहर से (त्रिलिङ्गं) तीन लिङ्ग वाले यानी–स्त्री, पुरुष, नपुंसक–लिङ्ग-धारक (इदं दृश्यमानं) बाहरसे इन्द्रियों द्वारा दिखाई देने वाले इस शरीर को ही आत्मा (अवबुध्यते) समझता है परन्तु (इदं) यह (निष्पन्नं) अनादि काल से विद्यमान (शब्द-वर्जितम्) शब्दों के द्वारा न कहे जाने वाला अथवा बहिर्जल्प यानी–बाहरी बोलचाल से तथा अन्तर्जल्प यानी भीतरी बोल चाल-मन के संकल्प–विकल्पों से रहित, शरीर के भीतर रहने वाला, ज्ञानवान, बाहर से दिखाई न देने वाला ही आत्मतत्व–आत्मा है (इति) इस तरह (अवबुद्धः) समझने वाला सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है ।

भावार्थ–शरीर भौतिक जड़ पदार्थ है, इस लिये बाहर से दिखाई देता है, कभी उत्पन्न होता है और कुछ समय पीछे नष्ट होजाता है, । आत्मतत्व को न समझने वाला मूर्ख बहि-रात्मा इस जड़ शरीर को ही आत्मा समझ लेता है । परन्तु

बुद्धिमान अन्तरात्मा स्त्री पुरुष आदि लिङ्गोंसे रहित, शरीर के भीतर रहने वाले, अनादि कालसे विद्यमान, अखण्ड अविनाशी ज्ञानमय, अनिर्वचनीय (शब्दोंद्वारा न कहे जानेवाले) शुद्ध आत्मतत्त्व को आत्मा समझता है। ॥ ४४ ॥

ननु यद्यन्तरात्मैवात्मानं प्रतिपाद्यते तदा कथं पुमानहं गौरोऽह-मित्यादिरूपं तस्य कदाचिदभेदभ्रांतिः स्यात् इति वदन्तं प्रत्याह—

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि ।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद्भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति ।४५।

टीका—आत्मनस्तत्त्वं स्वरूपं जानन्नपि । तथा विविक्तं शरीरादिभ्यो भिन्नं भावयन्नपि उभयत्राऽपिशब्दः परस्परसमुच्चये । भूयोऽपि पुनरपि । भ्रान्ति गच्छति । कस्मात् ? पूर्वविभ्रमसंस्कारात् पूर्वविभ्रमो वहिरात्मावस्थाभावी शरीरादौ स्वात्मविपर्यासस्तेन जनितः संस्कारो वासना तस्मात् ॥ ४५ ॥

वहिरात्मा का पुरातन संस्कार-

अन्वयार्थ—अन्तरात्मा (आत्मनः तत्वं) आत्मतत्वको (जानन् अपि) जानता हुआ भी तथा (विविक्तं) शरीर से भिन्न आत्मा को (भावयन् अपि) भावना करता हुआ भी— मानता हुआ भी (भूयःअपि) फिर फिर भी (पूर्वविभ्रमसंस्कारात्) पुराने वहिरात्मा—अवस्थाके (पहले के) मिथ्या संस्कार से (भ्रान्तिम्) शरीर को आत्मा समझ लेने के भ्रम को (गच्छति) कर बैठता है।

भावार्थ—जैसे नशीले पदार्थोंका सेवन करनेवाला मनुष्य उन पदार्थों की बुराई समझ करके अफीम खाना तथा शराब पीना आदि छोड़ देता है। फिर भी पुराने संस्कार से उसका मन उन पदार्थों की ओर चलायमान हो जाता है। इसी तरह अन्तरात्मा शरीर से भिन्न अपने आत्मा को जानता है, अनुभव भी करता है परन्तु उसको बहिरात्मा-अवस्था के अपने संस्कार से फिर शरीर को आत्मा मानने का भ्रम हो जाया करता है ॥ ४५ ॥

भूयो भ्रान्ति गतोऽसौ कथं मां त्यजेदित्याह—

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ४६

टीका—इदं शरीरादिकं दृश्यमिन्द्रियैः प्रतीयमानं । अचेतनं जडं रोपतोपादिकं कृतं न जानातीत्यर्थः । यच्चेतनमात्मस्वरूपं तदन्दृश्यमिन्द्रियग्राह्यं न भवति । ततः यतो रोपतोषविषयं दृश्यं शरीरादिकमचेतनं चेतनं स्वात्मस्वरूपमदृश्यत्वात्तद्विपयमेव न भवति, ततः क्व रुष्यामि क्व तुष्याम्यहं । अतः यतो रोषतोषयाः कश्चिदपि विषयो न घटते अतः मध्यस्थः उदासीनोऽहं भवामि ॥ ४६ ॥

शरीर तथा आत्मा के साथ राग और द्वेप क्यों न करना चाहिये, यह बतलाते हैं —

अन्वयार्थ—आत्मतत्व का वेत्ता—समझने वाला अन्तरात्मा विचारता है कि (इदं) यह (दृश्यं) दिखाई देनेवाला शरीर (अचेतनं) ज्ञानरहित जड़ है और (अदृश्यं) शरीर के भीतर रहने वाला, किन्तु दिखाई न देने वाला (चेतनम्) मेरा चेतन- ज्ञान-मय आत्मा है। (ततः) इस कारण मैं (क्व) किस पर (रुष्यामि) रोष-द्वेष करूं और (क्व) किस पर (तुष्यामि) सन्तोष-राग करूं ? यानी—आत्मा तो अदृश्य है। और शरीर जड़ है वह कुछ समझता नहीं। (अतः) इसलिये (अहम्) मैं (मध्यस्थः) शरीरआदिमें राग और द्वेष त्याग कर मध्यस्थ (भवामि) होता हूँ

भावार्थ—शरीर तो बाहर से दिखाई देता है परन्तु अचेतन है उसमें कुछ समझ-बूझ नहीं है । जिसमें ज्ञान है वह चेतन आत्मा है परन्तु वह दिखाई नहीं देता, ऐसी दशामें सम्यक्दृष्टि आत्मा विचारता है कि यदि मैं शरीर से राग या द्वेष करूं तो उसका क्या लाभ ? वह ज्ञानशून्य अचेतन है। और आत्मा दिखाई नहीं देता अतः उसमें राग-द्वेष का विकार कैसे किया जावे। इस कारण मुझे राग करना या द्वेष करना छोड़ कर मध्यस्थ रहना ठीक है॥ ४६ ॥

इदानीं मूढात्मनोऽन्तरात्मानश्च त्यागोपादानविषयं प्रदर्शयन्नाह—

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित् ।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥४७॥

टीका— मूढो बहिरात्मा त्यागोपादाने करोति क्व ? बहिर्बाह्ये हि वस्तुनि द्वेषोदयादभिलापाभावान्मूढात्मा त्यागं करोति । रागोदयात्तत्राभिलापात्पत्तेरुपादानमिति । आत्मविन् अन्तरात्मा पुनरध्यात्मनि स्वात्मरूप एव त्यागोपादाने करोति । तत्र हि त्यागो रागद्वेषादेरन्तर्जल्पविकल्पादेर्वा । स्वीकारश्चिदानन्दादेः । यस्तु निष्ठितात्मा कृतकृत्यात्मा तस्य अन्तर्बहिर्वा नोपादानं तथा न त्यागोऽन्तर्बहिर्वा ।

अब यह बतलाते हैं कि कौन व्यक्ति किस बात का त्याग और ग्रहण करता है—

अन्वयार्थ— (मूढः) आत्मा को न समझने वाला मूर्ख बहिरात्मा (बहिः) बाहरी यानी—शरीर सम्बन्धी तथा (आत्मवित्) आत्मतत्व का जानने वाला अन्तरात्मा (अध्यात्मं) आत्मा-सम्बन्धी (त्यागादाने) त्याग और ग्रहण को (करोति) करता है । एवं (निष्ठितात्मनः) कृतकृत्य-अर्हन्त आत्मा का (अन्तः बहिः) बाहरी यानी—शरीर-सम्बन्धी और भीतरी यानी-आत्मा-सम्बन्धी (न त्यागः) न त्याग होता है (न उपादानं) न ग्रहण होता है।

भावार्थ— बहिरात्मा तो शरीर को अपना सर्वस्व-यानी-सब कुछ मान करके शरीर और इन्द्रियों को अप्रिय लगनेवाले

पदार्थों का त्याग करता है और शरीर तथा इन्द्रियों के प्रिय लगने वाले विषयों को ग्रहण करता है । आत्मा को जानने वाला अन्तरात्मा आत्मा को दुखदायी कषायभावों का त्याग करता है तथा आत्मा के हित-कारी सम्यग्दर्शन(आत्म-श्रद्धा) सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र को ग्रहण करता है। एवं कृतकृत्य वीतराग परमात्मा किसी भी बाहरी तथा भीतरी पदार्थ का त्याग और ग्रहण नहीं करता क्योंकि उसे आत्मा के अहितकारी बाहरी धन, परिवार आदि का एवं अन्तरङ्ग अहितकारी रागद्वेष कषाय का तथा घाती कर्मों का त्याग करना था, सो वह कर चुका है और पूर्ण रत्नत्रय को ग्रहण करना था उसे प्राप्त कर चुका है-यानी कृतकृत्य हो चुका है ॥ ४७ ॥

अन्तस्त्यागोपादाने वा कुर्वाणोऽन्तरात्मा कथं कुर्यादित्याह—

युञ्जीत मनसात्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत् ।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥४८॥

टीका—आत्मानं युञ्जीत सम्बद्धं कुर्यात् । केन सह ? मनसा मानसज्ञानेन चित्तमात्मेत्यभेदेनाध्यवसेदित्यर्थः । वाक्कायाभ्यां तु पुनर्वियोजयेत् पृथक्कुर्यात् वाक्काययोरात्माभेदाध्यवसायं न कुर्यादित्यर्थः । एतच्च कुर्वाणो व्यवहारं तु प्रतिपादकभावलक्षणं प्रवृत्ति-

निवृत्तिरूपं वा। वाक्काययोजितं वाक्कायाभ्यां योजितं सम्पादितं। केन सह ? मनसा सह मनस्यारोपितव्यवहारं त्यजेत् चित्तेन न चिन्तयेत् ॥ ४८ ॥

अब यह बतलाते हैं कि आत्महित के लिये मन-वचन काय की प्रवृत्ति कैसी करनी चाहिये —

अन्वयार्थ—[मनसा] मन के साथ [आत्मान] अपने आत्मा को [युञ्जीत]जोड़ देवे, और [वाक्कायाभ्यां] वचन और शरीरसे आत्मा को[वियोजयेत्] अलग कर दे। [तु] और [वाक्काययोजितम्] वचन और शरीर द्वारा किये गये [व्यवहारं] व्यवहार को [मनसा] मनसे [त्यजेत्] त्याग करदे।

भावार्थ—आत्मा को मन के साथ मिला देने पर आत्म-स्वरूप का चिन्तवन होता है, इस कारण आत्मतत्व का ध्यान करने के लिये मन को आत्मा के साथ मिलाना यानी-मनका उपयोग आत्मा की ओर लगाना आवश्यक और उचित है। तथा वचन और शरीर की क्रिया से आत्मा को पृथक् रक्खें क्योंकि वाचनिक तथा शारीरिक क्रिया से आत्महित का कार्य नहीं होता है। यदि वचन और शरीर से कोई व्यवहार किया भी जावे तो उसे मन लगाकर न करे, बेमना होकर—उदासीन भावसे करे। ऐसा करनेसे कर्म का बन्धन ढीला पड़ता है।

ननु पुत्रकलत्रादिना सह वाक्कायव्यवहारे तु सुखोत्पत्तिः प्रतीयते कथं तत्त्यागो युक्त इत्याह—

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः॥

टीका—देहात्मदृष्टीनां वहिरात्मनां जगत् पुत्रकलत्रादिप्राणिगणो विश्वास्यमवञ्चकं। रम्यमेव च रमणीयमेव प्रतिभाति। स्वात्मन्येव स्वस्वरूपे एवात्मदृष्टीनां अन्तरात्मनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ? न क्वापि पुत्रकलत्रादौ तेषां विश्वासो रतिर्वा प्रतिभातीत्यर्थः॥ ४९॥

संसारमें वहिरात्मा किसको और अन्तरात्मा किसको अच्छा समझता है—

अन्वय--अर्थ—[देहात्मदृष्टीनां] शरीर को ही आत्मा समझने वाले वहिरात्मा जीवों को [जगत्] स्त्री, पुत्र, मित्र माता-पिता आदि चेतन पदार्थ तथा धन, मकान, आदि अचेतन पदार्थ [विश्वास्यं] अपने हितकारी रूपसे विश्वास करने योग्य प्रतीत होते हैं [च] और ये ही पर-पदार्थ [रम्यमेव] रमणीय -प्रसन्नता देने वाले प्रतीत होते हैं। परन्तु [स्वात्मनि एव आत्मदृष्टीनां] आत्मद्रष्टा—अपने आत्मा का दर्शन करने वाले स्त्री पुरुषों को [क्व] संसार के कौनसे पदार्थमें [विश्वासः] विश्वास होवे। [वा] अथवा उनका [क्व] कहां पर [रतिः] राग हो ? अर्थात् उन अन्तरात्माओं के लिये अपने आत्मा के सिवाय अन्य कोई चेतन तथा शरीर मकान धन आदि अचेतन पदार्थ न श्रद्धा— विश्वास

करने योग्य है और न राग करने योग्य है।

भावार्थ- जो जीव शरीर को ही आत्मा समझते हैं वे तो अपने शरीर के लिये हितकारी समझकर पुत्र, स्त्री, माता-पिता, मित्र आदि चेतन पदार्थों पर तथा धन, मकान आदि अचेतन पदार्थों पर विश्वास करते हैं और उनको अपना समझकर उनको अपने सुखका साधन समझते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टी पुरुष संसार के किसी भी अन्य चेतन, अचेतन पदार्थ को, यहाँ तक कि अपने शरीर को भी न तो अपना समझकर उसका विश्वास करते हैं, न उन पदार्थों में राग-भाव करते हैं। वे समझते हैं कि संसार के पदार्थों का न तो सदा साथ रहता है और न वे अपना हित करते हैं, उनके संयोग, वियोग से तो तो व्याकुलता ही होती है ॥ ४९ ॥

नन्वेवमाहारादावप्यन्तरात्मनः कथं प्रवृत्तिः स्यादित्याह—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥

टीका—चिरं बहुतरं कालं बुद्धौ न धारयेत् । किं तत् ? कार्यं । कथम्भूतं ? परमन्यत् । कस्मात् ? आत्मज्ञानात् । आत्मज्ञानलक्षण-मेव कार्यं बुद्धौ चिरं धारयेदित्यर्थः । परमपि किञ्चिद्वाक्कायाभ्यां कुर्यात् । कस्मात् ? अर्थवशात्स्वपरोपकारलक्षणप्रयोजनवशात् किंविशिष्टः ? अतत्परस्तदनासक्तः ॥ ५० ॥

सम्यग्दृष्टि को क्या करना चाहिये, यह बताते हैं —

अन्वयार्थ— बुद्धिमान अन्तरात्मा को (आत्मज्ञानात्) अपने आत्मा के चिन्तन, मनन, संवेदन रूप ज्ञान के सिवाय (परम्) अन्य कोई (कार्य) काम (बुद्धौ) अपने मन में (चिरम्) बहुत समय तक (न धारयेत्) न धारण करना चाहिये–उसमें थोड़ा ही समय लगाना चाहिये, (अर्थवशात्) किसी प्रयोजन से (किंचित्) यदि कुछ (कुर्यात) करे भी तो (अतत्परः) उदासीन रूप से (वाक्कायाभ्याम्) अपने वचन और शरीर से वह काम करे यानी–मन उस संसारी काममें न लगावे।

भावार्थ–मन लगाकर यदि आत्म-चिन्तन, आत्मा-मनन आत्मा की भावना, सामायिक, स्वाध्याय आदि कार्य किया जाता है तो आत्माका बल बढ़ता है, संसार से तथा परिवारसे मोह कम होता है। इससे कर्मों का आना कम (संवर) होता है, तथा कर्मों की निर्जरा होती है, आत्मा को आनन्द मिलता है। यदि मन को अपने शरीर-पोषण, इन्द्रियों के विषयभोगों तथा अपने परिवार या संसार के अन्य पदार्थों के विषय में लगा दिया जावे तो राग द्वेष, क्रोध, मान, लोभ, कामवासना आदि दुर्भाव पैदा होते हैं, आकुलता बढ़ती है। इसलिये बुद्धि-

मान पुरुष को अपने आत्मा की ओर मन लगाना चाहिये। संसार, शरीर, परिवार का यदि कोई काम करना भी पड़े तो उसे वचनसे या शरीर से करे, उसमें मन को न लगावे यानी- उसको उदासीनता से करे॥ ५० ॥

तदनासक्तः कुतः पुनरात्मज्ञानमेव बुद्धौ धारयेन्न शरीरादिक-मित्याह—

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ५१

टीका—यच्छरीरादिकमिन्द्रियैः पश्यामि तन्मे नास्ति मदीयं-रूपं तन्न भवति। तर्हि किंतव रूपम् ? तदस्तु ज्योतिरुत्तमं ज्योतिर्ज्ञा-नमुत्तममतीन्द्रियम्। तथा सानन्दं परमप्रसत्तिसद्भूतसुखसमन्वितम्।- एवं विधं ज्योतिरन्तः पश्यामि स्वसंवेदनेनानुभवामि यत्तन्मे स्वरूप-मस्तु भवतु। किंविशिष्टः पश्यामि ? नियतेन्द्रियो नियन्त्रितेन्द्रियः।

अब यह बतलाते हैं कि अन्तरात्मा अपने बाहर और भीतर क्या देखता है —

अन्वयार्थ—अन्तरात्मा विचारक रता है कि (यत्) जो कुछ (इन्द्रियैः) इन्द्रियों के द्वारा (पश्यामि) देखता हूँ (तत्) वह (मे) मेरा (नास्ति) नहीं है। (नियतेन्द्रियः) इन्द्रियों को अपने वशमें करता हुआ मैं जो कुछ (अन्तः) अपने भीतर अपने आत्मामें (सानन्दं) निराकुल आनन्दके साथ (पश्या-

मि) देखता हूं, वह ही (उत्तमम्) उत्कृष्ट (ज्योतिः) प्रकाश है (तत्) वह आत्मज्योति मेरे (अस्तु) होवे ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि इन्द्रियों से ग्रहण होनेवाले संसार के सभी पदार्थों में से कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है, इस कारण मुझे अपनी इन्द्रियों का नियन्त्रण करके यानी— अपने वशमें करके अपने भीतर की आनन्द-दायिनी आत्मज्योति देखनी चाहिये, वही आत्मज्योति मेरी है। वही आत्माकी ज्योति मेरे लिये सदा सन्मार्गका प्रकाश देती रहे ।

ननु सानन्दं ज्योतिर्यद्यात्मनोरूपं स्यात्तदेन्द्रियनिरोधं कृत्वा तदनुभवतः कथं दुःखं स्यादित्याह—

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि ।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥५२॥

टीका–बहिर्बाह्यविषये सुखं भवति । कस्य आरब्धयोगस्य प्रथममात्मस्वरूपभावनोद्यतस्य । अथ आहो । आत्मनि आत्मस्वरूपे दुःखं तस्य भवति । भावितात्मनो यथावद्विदितात्मस्वरूपे कृताभ्यासस्य । बहिरेव बाह्यविषयेष्वेवाऽसुखं भवति । अथ आहो । सौख्यं अध्यात्मं तस्याध्यात्मस्वरूप एव भवति ॥ ५२ ॥

अब बतलाते हैं कि आत्मध्यान करनेसे पहले और पीछे आत्माकी क्या दशा होती है–

अन्वय-अर्थ– (आरब्धयोगस्य) जिस व्यक्तिने आत्म-ध्यान करना प्रारम्भ किया है उसको प्रारम्भ में (अथआत्मनि) अपने आत्मचिन्तनमें (दुःखम्) दुख और (वहिः) बाहर शरीरमें, संसारमें (सुखं) सुख मालूम होता है। (भावितात्मनः) जिस को आत्म-भावना का अभ्यास है उसको (अध्यात्मं) अपने आत्मा में (सौख्यं) सुख अनुभव होता है और (वहिरेव) आत्माके बाहर (असुखं) दुख प्रतीत होता है।

भावार्थ- आत्माका चिन्तवन करते समय पहले पहले आत्म-चिन्तवनमें कठिनाई तथा दुख प्रतीत होता, है बाहरी इन्द्रिय-विषयभोग आदि संसारी कार्योंमें सुख दीखता है। क्योंकि उसको अनादि काल से शरीर, परिवार, संसार के साथ राग भाव करने के संस्कार पड़े हुए हैं। परन्तु जब आत्म-चिन्तन का अभ्यास हो जाता है तब उसे आत्म-चिन्तन बहुत आनन्द दायक लगता है। उसके सिवाय संसार की बाहरी बातें उसे दुखदायक तथा आकुलता करनेवाली मालूम होती हैं ॥५२॥

तद्भावना चेत्थं कुर्यादित्याह—

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥५३॥

टीका—तत् आत्मस्वरूपं ब्रूयात् परं प्रतिपादयेत्। तदात्मस्वरूपं परान् विदितात्मस्वरूपान् पृच्छेत्। तथा तदात्मस्वरूपं इच्छेत्

परमार्थतः सन् मन्येत । तत्परो भवेत् आत्मस्वरूपभावनादरपरो भवेत्। येनात्मस्वरूपेणेत्थं भावितेन। अविद्यामयं स्वरूपं वहिरात्मस्वरूपम्। त्यक्त्वा विद्यामयं रूपं परमात्मस्वरूपं व्रजेत्॥ ५३॥

आत्म-चिन्तन के लिये क्या करना चाहिये, सो वताते है-

अन्वय अर्थ--आत्म-श्रद्धालु को (तत्) वह आध्यात्मिक चर्चा (ब्रूयात्) करनी चाहिये, (तत्) वह आत्मा-सम्बन्धी ही बातें (परान्) अन्य विद्वानों से (पृच्छेत्) पूछनी चाहिये, (इच्छेत्) उसी आध्यात्मिक विषय की चाह रखनी चाहिये (तत्परः भवेत्) उसी आध्यात्मिक विषय में सदा तत्पर-तयार या उत्सुक रहना चाहिये, (येन) जिसमें (अविद्यामयं रूप) अपना आत्मा का अज्ञान भाव (त्यक्त्वा) छोड़कर (विद्यामयं) ज्ञानभाव (व्रजेत्) प्राप्त हो।

भावार्थ—जगत् में आत्मा को सुख, सन्तोष देने वाला अपने आत्म-स्वरूपका वतलाने वाला आध्यात्मिक ज्ञान है। अन्य सांसारिक ज्ञान से आत्मा को सुख सन्तोष नहीं मिला करता। इसलिये बुद्धिमान व्यक्तिको आत्म--अज्ञान दूर करके आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इसके लिये आध्यात्मिक शास्त्रों का पढ़ना, आध्यात्मिक चर्चा करना, अपने से अधिक विद्वानों से आत्माकी विशेष जानकारी प्राप्त करना तथा आत्म-मनन करते रहना चाहिये ॥ ५३ ॥

ननु वाक्कायव्यतिरिक्तस्यात्मनाऽप्रम्भवनात् तद्ब्रूयादित्याद्ययुक्त-मिति वदन्तं प्रत्याह—

शरीरे वाचि चात्मानं संधत्ते वाक्शरीरयोः ।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते ५४

टीका—सन्धत्ते आरोपयति । कं आत्मानम् । क्व ? शरीरे वाचि च । कोऽसौ ? वाक्शरीरयोर्भ्रान्तो वागात्मा शरीरमात्मेत्येवं विपर्यस्तो बहिरात्मा । तयोरभ्रान्तो यथावत्स्वरूपपरिच्छेदकोऽन्तरात्मा पुनः एतेषां वाक्शरीरात्मनां तत्त्वं स्वरूपं पृथक् परस्परभिन्नं निबुध्यते निश्चिनोति ॥ ५४ ॥

शरीर और वाणी के विषय में बहिरात्मा और अन्तरात्मा की क्या धारणा है, सो बतलाते हैं —

अन्वयार्थ—बहिरात्मा [शरीरे] अपने जड़ शरीर में [च] और [वाचि] वाणीमें [आत्मानं] अपने आत्मा को [संधत्ते] धारण करता है । यानी जानता है। इस तरह [वाक्शरीरयोः] वचन और शरीर के विषयमें [भ्रान्तः] भ्रम वाला—अज्ञानी बना हुआ है । [पुनः] किन्तु [अभ्रान्तः] भ्रम रहित अन्तरात्मा [एषां] इन शरीर वचन और आत्मा को [पृथक्] अलग [निबुध्यते] समझता है ।

भावार्थ—शरीर में आत्मा रहता है, जैसे कि म्यानमें तलवार रहती है । उस शरीरमें बोलने वाली रसना इन्द्रिय [जीभ] भी है । आत्मा की प्रेरणा से शरीर काम करता है और रसना (जीभ)वचन बोलती है । इस तरह आत्मा इस शरीर और वाणी से भिन्न चेतन पदार्थ है, परन्तु मूर्ख बहिरात्मा शरीर

और वाणी को ही भ्रम से आत्मा समझता है। परन्तु तत्व-ज्ञानी अन्तरात्मा शरीर और वाणी से अलग आत्मा को समझता है ॥ ५४ ॥

एवमवबुद्धयमानो मूढात्मा येषु विषयेष्वासक्तचित्तो न तेषु मध्ये किञ्चित्तस्योपकारकमस्तीत्याह—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥ ५५ ॥

टीका— इन्द्रियार्थेषु पंचेन्द्रियविषयेषु मध्ये न तत्किञ्चिदस्ति यत् क्षेमङ्करम्। कस्य ? आत्मनः। तथापि यद्यपि क्षेमङ्करं किञ्चिन्नास्ति। रमते रतिं करोति। कोऽसौ ? बालो बहिरात्मा तत्रैव इन्द्रियार्थेष्वेव। कस्मात् ? अज्ञानभावनात् मिथ्यात्वसंस्कारवशात्। अज्ञानं भाव्यते जन्यते येनासावज्ञानभावनो मिथ्यात्वसंस्कारः तस्मात् ॥ ५५ ॥

अब यह बतलाते हैं कि आत्मा का कल्याण विषय-भोगोंमें नहीं है—

अन्वयार्थ—(यत्) जो (आत्मनः) आत्माका (क्षेमङ्करः) कल्याण करने वाला है। (तत्) वह (इन्द्रियार्थेषु) इन्द्रियों के विषय-भोगोंमें (न अस्ति) नहीं है। (तथापि) तो भी (बालः) अज्ञानी बहिरात्मा (अज्ञानभावनात्) अज्ञान भावना से (तत्रैव) उनही इन्द्रियों के विषय-भोगोंमें (रमते) रमण करता है।

भावार्थ—आनन्द आत्माका गुण है, अतः वह आत्म में

रहता है, जड़ पदार्थोंमें नहीं पाया जाता परन्तु अपने आनन्द-मयी आत्मा को ठीक तरहसे न समझ करके मूर्ख बहिरात्मा इन्द्रियों के विषय-भोगोंमें सुख मानकर रमण करता है। इन्द्रि-यों के विषय-भोगों से आत्मा की तृष्णा (लालसा) बढ़ती है, शान्त नहीं होती। जैसे कि खारा पानी पीने से प्यास बढ़ती तो है, किन्तु प्यास शान्त नहीं होती ॥ ५५ ॥

तथा अनादिमिथ्यात्वसंस्कारे सत्येवम्भूता बहिरात्मनो भवन्ती-त्याह —

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥ ५६ ॥

टीका—चिरमनादिकालं मूढात्मनो बहिरात्मनः सुषुप्ता अतीव जडतां गताः : केषु ? कुयोनिषु नित्यनिगोदादिचतुरशीतिलक्षयो-निष्वधिकरणभूतेषु। कस्मिन् सति ते सुषुप्ताः ? तमसि अनादिमि-थ्यात्वसंस्कारे सति। एवम्भूतास्ते यदि संज्ञिपूत्पद्य कदाचिद्दैव-वशात् बुध्यन्ते तदा ममाहमिति जाग्रति। केषु ? अनात्मीयात्मभू-तेषु — अनात्मीयेषु परमार्थतोऽनात्मीयभूतेषु पुत्रकलत्रादिषु ममैते इति जाग्रति अध्यवस्यन्ति। अनात्मभूतेषु शरीरादिषु अहमेवैते इति जाग्रति अध्यवस्यन्ति ॥ ५६ ॥

मूर्ख बहिरात्मा सदा अज्ञानमें डूबा रहता है यह बताते हैं —

अन्वयार्थ- (मूढात्मानः) मूर्ख बहिरात्मा (तमसि) अज्ञानअन्धकारमें (कुयोनिषु) नरक निगोद तथा एकेन्द्रिय,

दोइन्द्रिय आदि खोटी योनियोंमें मन के बिना (चिरं) चिरकाल से—अनादि समय से (सुषुप्तः) सोते रहते हैं। और जब (जाग्रति) वे संज्ञी पंचेन्द्रिय शरीर पाकर मनुष्य आदि योनियोंमें जागते हैं तो (अनीयात्मभूतेषु) शरीर, परिवार, धन, मकान आदि अन्य पदार्थोंमें (मम) ये मेरे हैं, ऐसी ममता करते हैं तथा (अहम्) शरीरमें अहङ्कार यानी-शरीर को ही आत्मा मानकर अहम् बुद्धि करते हैं।

भावार्थ-- मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जब निगोद, तथा एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पन्चेन्द्रियों तक के शरीरमें रहता है तब तो मन न होने के कारण यानी—अज्ञान के कारण सोता सा रहता है, कुछ लाभ हानि की बात नहीं समझ पाता। और जब वह मनवाला संज्ञी पंचेन्द्रिय शरीरमें उत्पन्न होता है तब शरीर को ही आत्मा समझ लेता है तथा माता-पिता, पुत्र-स्त्री, धन मकान, आदि अन्य पदार्थों को अपना मानकर आकुल व्याकुल बना रहता है॥ ५६॥

ततो बहिरात्मस्वरूपं परित्यज्य स्वपरशरीरमित्थं पश्येदित्याह—

पश्येन्निरन्तरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा ।
अपरात्मधियान्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः ॥५७॥

टीका—आत्मनो देहमात्मसम्बन्धिशरीरं अनात्मचेतसा ममात्मा न भवतीति बुद्धया अन्तरात्मा पश्येत। नियन्तरं सर्वदा। तथा अन्येषां

देहं परेषामात्मा न भवतीति बुद्धया पश्येत्। किं विशिष्टः ? आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः आत्मस्वरूपनिष्ठः ॥ ५७॥

ग्रन्थकार कहते हैं कि आत्मामें स्थिर होकर अन्य पदार्थों को अपने से अन्य समझो —

अन्वयार्थ–(आत्मतत्वे) अपने आत्मामें (व्यवस्थितः) स्थित हुआ अन्तरात्मा (आत्मनः) अपने (देहम्) शरीर को (निरन्तरं) सदा (अनात्मचेतसा) अनात्म बुद्धिसे--यानी यह शरीर आत्मा नहीं है, इस विचार से (पश्येत्) देखे--समझे तथा (अन्येषां) अन्य जीवों को यानी--पुत्र- स्त्री, आदि को (अपरात्मधिया) अन्य आत्मा की बुद्धि से देखे-समझे।

भावार्थ--अपने आत्मामें स्थिर होकर बुद्धिमान जीव को सदा अपना शरीर अपने आत्मा से भिन्न जड़ पदार्थ समझना चाहिये। और माता पिता, पुत्र स्त्री भाई आदि को अन्य चेतन आत्मा समझना चाहिये। यानी--संसार के सभी चेतन जीवों को तथा जड़ पदार्थों को यहां तक कि अपने शरीर को भी अपना नहीं समझना चाहिये, इसी कारण किसी भी पदार्थ से मोह ममता न करनी चाहिये ॥ ५७ ॥

नन्वेवमात्मतत्त्वं स्वयमनुभूय मूढात्मनां किमिति न प्रतिपाद्यते न तेऽपि तज्जानन्त्विति वदन्तं प्रत्याह—

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा ।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥५८॥

टीका—मूढात्मना मां आत्मस्वरूपमज्ञापितमप्रतिपादितं यथा न जानन्ति मूढात्मत्वात् । तथा ज्ञापितमपि मां ते मूढात्मत्वादेव न जानन्ति । ततः सर्वथा परिज्ञानाभावात् । तेषां मूढात्मनां सम्बन्धित्वेन वृथा मे ज्ञापनश्रमो विफलो मे प्रतिपादनप्रयासः ॥ ५८ ॥

बहिरात्मा बिना समझाये तो आत्मा को समझता नहीं, किन्तु समझाने पर भी उसकी समझमें आत्मतत्व नहीं आता, यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ–[मूढात्मानः] मूर्ख बहिरात्मा जीव [अज्ञापितं] बिना बतलाये [माम्] मेरे आत्मस्वरूप को [यथा] जिस तरह [न जानन्ति] नहीं जानते हैं [तथा] उसी प्रकार [ज्ञापितं] बतलाने पर भी आत्म स्वरूप को नहीं जानते [ततः] इसकारण [तेषां] उन मूर्ख बहिरात्माओं के लिये [मे] मेरा [ज्ञापनश्रमः] आत्मा का शुद्ध स्वरूप समझाने का परिश्रम [वृथा] व्यर्थ है।

भावार्थ--अन्तरात्मा विचार करता है कि आत्मा की मिथ्या श्रद्धा–मिथ्यात्व तथा अज्ञान का ऐसा बुरा प्रभाव है कि बहिरात्मा जीवों को शरीर आदि अन्य पदार्थों से भिन्न आत्मा का शुद्ध स्वरूप बिना समझाये तो मालूम होता ही नहीं परन्तु यदि उनको समझा जाय तो भी उनकी समझमें नहीं

आता। चिरकाल के मिथ्या संस्कार से वे शरीर को ही आत्मा समझे हुए हैं।

किंच—

यद्बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥५९॥

टीका —यत् विकल्पाधिरूढमात्मस्वरूपं देहादिकं वा बोधयितुं ज्ञापयितुमिच्छामि। तन्नाहं तत्स्वयं नाहमात्वस्वरूपं परमार्थतो भवामि। यदहं पुनः यत्पुनरहं चिदानन्दात्मकम् स्वसंवेद्यमात्मस्वरूपं। तदपि ग्राह्यं नान्यस्य स्वसंवेदनेन तदनुभूयते इत्यर्थः तत्किमन्यस्य बोधये तत्तस्मात्किं किमर्थं अन्यस्यात्मस्वरूपं बोधयेऽहम् ॥५९॥

आत्मा अपने अनुभव से जाना जाता है, वचन द्वारा नहीं बतलाया जा सकता —

अन्वयार्थ—मैं (यत्) जो आत्मा का स्वरूप अन्य जीवों को (बोधयितुं) समझाना (इच्छामि) चाहता हूँ (तत्) वह (अहम् न) मैं नहीं हूँ (पुनः) और (यत्) जो (अहम्) मैं हूँ (तदपि) वह भी (अन्यस्य) अन्य व्यक्ति का (ग्राह्यं-न) ग्राह्य- ग्रहण करने योग्य नहीं है। (तत्) इस कारण (अन्यस्य) अन्य जीव को (अहम्) मैं (किम्) क्या (बोधये) समझाऊं?

भावार्थ—अन्तरात्मा कहता है कि जैसे कोई मनुष्य मिश्री

को खाकर उसके मिठास का स्वयं अनुभव तो कर सकता है परन्तु मिश्री के उस मिठास के अनुभव को शब्दों द्वारा दूसरे को बतला नहीं सकता। इसी तरह मैं जो अपने चिदानन्द आत्माका अनुपम रस दूसरोंको समझाना चाहूँ तो शब्दों द्वारा समझा नहीं सकता। जो कुछ शब्दों द्वारा आत्मस्वरूप कहता हूँ वह वास्तवमें वैसा है नहीं। यानी--आत्माका स्वरूप अनुभव करने की चीज है, कहने की नहीं है। स्वयं अनुभव करने पर ही आत्मा का स्वरूप मालूम हो सकता है, किसी अन्य व्यक्ति के कहने पर मालूम नहीं हो सकता॥ ५९ ॥

बोधितेऽपि चान्तस्तत्त्वे बहिरात्मनो न तत्रानुरागः सम्भवति। मोहोदयात्तस्य बहिरर्थ एवानुरागादिति दर्शयन्नाह—

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥

टीका — बहिः शरीराद्यर्थे तुष्यति प्रीतिं करोति। कोऽसौ? मूढात्मा। कथम्भूतः? पिहितज्योतिर्मोहाभिभूतज्ञानः। क्व? अन्तरे अन्तस्तत्त्वविषये। प्रबुद्धात्मा मोहानभिभूतज्ञानः अन्तस्तुष्यति स्वस्वरूपे प्रीतिं करोति। किं विशिष्टः सन्? बहिर्व्यावृत्तकौतुकः शरीरादौ निवृत्तानुरागः॥ ६० ॥

अब यह बताते हैं कि बहिरात्मा कहां सन्तुष्ट होता है और अन्तरात्मा कहां सन्तुष्ट होता है —

अन्वयार्थ–(मूढात्मा) शरीर को आत्मा समझने वाला मूर्ख बहिरात्मा (पिहितज्योतिरन्तरे) अन्तरङ्ग आत्मा की ज्योति–ज्ञानके ढके रहने पर (बहिः) बाहरी-शरीर, परिवार, विषय-भोग आदिमें (तुष्यति) सन्तुष्ट रहता है। (बहिर्व्या-वृत्तकौतुकः) अपने आत्माके सिवाय अन्य बाहरी पदार्थों की ओर से लालसा न रखने वाला (प्रबुद्धात्मा) आत्मा का अनुभव करने वाला सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा (अन्तः अपने भीतर विराजमान अपने आत्मामें (तुष्यति) सन्तुष्ट रहता है।

भावार्थ –जैसे मकान के बाहर प्रकाश हो और भीतर अन्धकार हो तो मनुष्य को बाहर की वस्तुऐं दिखाई देती हैं, मकान के भीतर कुछ नहीं दिखाई देता। इसी तरह जिसका आत्मा अज्ञान और मिथ्यात्वके अन्धकार में ढका हुआ है उस मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा को अपने भीतर विराजमान चिदा-नन्द आत्मा दिखाई नहीं देता उसे तो बाहरी वस्तुएँ-शरीर, कुटुम्ब, शत्रु-मित्र, विषय-भोग आदि ही दिखाई देते हैं, अतः वह उनमें राग-द्वेष आदि करता हुआ सन्तुष्ट रहता है। तथा जिसके हृदयमें भीतर विवेक ज्ञान की ज्योति प्रकाशमान है उस सम्यग्दृष्टि को अपना आत्मा दिखाई देता है, उसका सन्तोष अपने आत्मा के अनुभवमें होता है बाहरी वस्तुओं में उसे रुचि नहीं होती ॥ ६० ॥

कुतोऽसौ शरीरादिविषये निवृत्तभूषणमण्डनादिकौतुक इत्याह—

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः ।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥ ६१ ॥

टीका —सुखदुःखानि न जानन्ति । कानि शरीराणि जडत्वात् अबुद्धयो बहिरात्मानः । तथापि यद्यपि जानन्ति तथापि । अत्रैव शरीरादावेव कुर्वंते । कां ? निग्रहानुग्रहधियं द्वेषवशादुवासादिना शरीरादेः कदर्थताभिप्रायो निग्रहबुद्धि रागवशात्कटककटिसूत्रादिना भूषणाभिप्रायोऽनुगृहबुद्धिम् ॥ ६१ ॥

बहिरात्मा जड़ शरीरका उपकार, अपकार करते हैं, जबकि शरीर उसे कुछ समझता नहीं है, यह बतलाते हैं —

अन्वयार्थ – (शरीराणि) जीवों के जड़ शरीर यद्यपि (सुखदुःखानि) सुख दुखको (न जानन्ति) नहीं जानते हैं (तथापि) तो भी (अन्यबुद्धयः) शरीरमें ही आत्मबुद्धि रखने वाले मूर्ख बहिरात्मा जीव (अत्रएव) इस शरीरमेंही (निग्रहानुग्रहधियं) भूखा प्यासा आदि रहकर दण्ड देने का तथा खिलाना-पिलाना, सुन्दर वस्त्र-आभूषण पहनाना, आदि अनुग्रह करने का विचार (कुर्वते) करते हैं ।

भावार्थ—पौदुगलिक (भौतिक) शरीर ज्ञानरहित जड़ है वह शरीर न तो दुख समझता है, न उसे सुख का अनुभव होता है, फिर भी मिथ्यादृष्टि मूर्ख बहिरात्मा जीव कभी तो

क्रोध, शोक आदि से भूखे प्यासे रह जाते हैं, शरीर को पत्थर अस्त्र-शंस्त्र से कूट पीट पर घायल कर लेते हैं इत्यादि अनेक तरह से शरीर का घात करके समझते हैं कि हमने शरीर को दंड दिया तथा शरीर को अच्छे स्वादिष्ट रसदार भोजन पान कराकर या सुन्दर वस्त्र आभूषण पहनाकर यों समझते हैं कि हमने शरीर पर बड़ा अनुग्रह किया—यानी-- इसका भला किया है ॥ ६१ ॥

यावच्च शरीरादावात्मबुद्धया प्रवृत्तिस्तावत्संसारः तदभावान्मुक्तिरितिदर्शयन्नाह —

स्वबुद्धया यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥६२॥

टीका—स्वबुद्धया आत्मबुद्धया यावद् गृण्हीयात् । किं ? त्रयम् । केषाम् ? कायवाक्चेतसां सम्बन्धमिति पाठः । तत्र कायवाक्चेतसां त्रयम् कर्तृ । आत्मनि यावत्सम्बन्धं गृण्हीयात्स्वीकुर्यादित्यर्थः । तावत्संसारः । एतेषां कायवाक्चेतसां भेदाभ्यासे तु आत्मनः सकाशात् कायवाक्चेतांसि भिन्नानीति भेदाभ्यासे भेदभावनायां तु पुन निर्वृत्तिः मुक्तिः ॥ ६२ ॥

अब कहते हैं कि पुद्गलीक मन वचन काय को ममता भाव से ग्रहण करने पर संसारभ्रमण होता रहता है और उनके साथ भेद ज्ञान होने से मुक्ति प्राप्त होती है—

अन्वयार्थ – (यावत्) जब तक (स्वबुद्ध्या) अपनी बुद्धि से (कायवाक्चेतसां त्रयम्) अपने शरीर, वचन और मन इन तीनों को (ग्रहीयात्) यह जीव ग्रहण करता है (तावत्) तब तक (एतेषां) इन संसारी जीवों का (संसार:) जन्म मरण रूप संसार-भ्रमण बना रहता है (तु) और (भेदाभ्यासे) द्रव्यमन, वचन, शरीर के साथ आत्मा का भेद-ज्ञान का अभ्यास हो जाने पर (निर्वृतिः) जन्म मरण रूप संसार से मुक्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ–जैसे तोता मैना जब अपनी पक्षियोंकी बोली को छोड़ करके अपने से अन्य–मनुष्य की बोली बोलना अपनाते हैं तब वे मनुष्यों के मनोरञ्जन के लिये पिंजड़ेमें बन्द कर दिये जाते हैं, यदि वे मनुष्य की वाणी बोलना बन्द करदें तो पिंजड़े से बाहर निकाल कर उन्हें मुक्त कर दिया जाता है। इसी तरह संसारी जीव जब तक पर - पदार्थ– शरीर, वचन, द्रव्यमन को अपनाकरके ग्रहण करता है तब तक कर्म- बन्धन द्वारा संसार के बन्दीघर (जेल) में पड़ा रहता है और जब भेद विज्ञान द्वारा उन मन वचन-काय से मोह ममता त्याग देता है तब इस आत्मा का कर्म-बन्धन टूट जाता है तथा संसार से मुक्ति मिल जाती है।

शरीरादावात्मनो भेदाभ्यासे च शरीरदृढतादौ नात्मनोदृढतादिक मन्यते इति दर्शयन् घनेत्यादि श्लोकचतुष्टयमाह—

घने वस्त्रे यथात्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥६३॥

टीका—घने निविडावयवे वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं घनं दृढावयवं यथा बुधो न मन्यते। तथा स्वदेहेऽपि घनेदृढे आत्मानं घनं दृढं बुधो न मन्यते ॥ ६३ ॥

अब कहते हैं कि शरीर के मोटे बलवान होने से आत्मा मोटा या बलवान नहीं होता—

अन्वय- अर्थ– (यथा) जिस तरह (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (घने वस्त्रे) मोटा मजबूत वस्त्र पहन लेने पर (आत्मानं) अपने आपको (घनं) मोटा मजबूत (न मन्यते) नहीं समझता है (तथा) उसी तरह (स्वदेहे) अपने शरीरके (घने) मोटे बलवान होनेपर बुद्धिमान अन्तरात्मा (आत्मानं) अपने आत्मा को (घनं) बलवान (न मन्यते) नहीं मानता है।

भावार्थ–शरीर एक अन्य पदार्थ है और शरीर के ऊपर पहना जाने वाला कपड़ा अन्य पदार्थ है, इस कारण मोटा मजबूत कपड़ा पहन लेनेसे शरीर मोटा या मजबूत नहीं बन जाता। ठीक इसी तरह आत्मा एक अन्य ज्ञानमय चेतन पदार्थ है और शरीर अन्य जड़ पदार्थ है, इसी कारण शरीर के हृष्ट

पुष्ट मोटा ताजा होने पर आत्मा हृष्ट पुष्ट, मोटा ताजा, बलवान नहीं बन जाता, आत्मा तो अपने ज्ञान दर्शन, सुख, शक्ति द्वारा बलवान सुखी होता है ॥ ६३ ॥

जीर्णे वस्त्रे यथात्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ६४

टीका— जीर्णे पुराणे वस्त्रे प्रावृते यथाऽऽत्मानं बुधो जीर्णं न मन्यते। तथा जीर्णे वृद्धे स्वदेहेऽपि स्थितमात्मानं न जीर्णं वृद्धमात्मानं मन्यते बुधः ॥ ६४ ॥

अब वस्त्र का दृष्टान्त देकर कहते हैं कि शरीर के जीर्ण हो जानेपर आत्मा जीर्ण नहीं होता —

अन्वय-अर्थ– (यथा) जिस तरह (जीर्णे वस्त्रे) पहने हुए वस्त्र के जीर्ण शीर्ण– पुराने हो जाने पर (आत्मानं) अपने शरीर को मनुष्य (जीर्णं) पुराना (न मन्यते) नहीं मानता है (तथा) उसी प्रकार (स्वदेहेऽपि) अपने शरीरके भी (जीर्णे) पुराने- वृद्ध हो जाने पर (बुधः) सम्यग्ज्ञानी (आत्मानं) अपने आत्मा को (जीर्णं न मन्यते) पुराना या बूढ़ा नहीं मानता है ।

भावार्थ—शरीर पर पहना हुआ कपड़ा जब कुछ दिनों पीछे पुराना हो जाता है तो वह कपड़ा ही पुराना माना जाता है उस कपड़े के कारण शरीर को कोई पुराना नहीं समझता ।

इसी तरह यदि शरीर अधेड़ या बूढ़ा हो जाता है तो सम्यक्-दृष्टि उस शरीर के कारण अपने आत्मा को बूढ़ा हुआ नहीं समझता । ६४ ।

नष्टे वस्त्रे यथात्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

टीका— प्रावृते वस्त्रे नष्टे सति आत्मानं यथा नष्टं बुधो न मन्यते तथा स्वदेहे विनष्टे कुतश्चित्कारणाद्विनाशं गते आत्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥ ६५ ॥

शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होता—

अन्वयार्थ —(यथा) जिस तरह (वस्त्रे नष्टे) शरीरके वस्त्र के फट जाने पर मनुष्य (आत्मानं) अपने शरीर को (नष्टं) फटा हुआ या नष्ट हुआ (न मन्यते) नहीं मानता है (तथा) उसी तरह (स्वदेहे अपि) अपने शरीरके भी (नष्टे) नष्ट हो जाने पर (बुधः) बुद्धिमान अन्तरात्मा (आत्मानं) अपने आत्मा को (नष्टं न मन्यते) नष्ट हुआ या मरा हुआ नहीं मानता ।

भावार्थ— अपने शरीर का कपड़ा पुराना होकर जब सड़ गल जाता है, फट जाता है, तो उस कपड़े को फेंक दिया जाता है, दूसरा कपड़ा पहन लिया जाता है । कोई भी मनुष्य कपड़े के फट जाने पर अपने शरीर को सड़ा गला फटा या त्याज्य

नहीं समझता, इसी तरह अपने आत्मा का ठीक अनुभव करने वाला सम्यक्ज्ञानी पुरुष शरीरको नष्ट होता हुआ देखकर अपने अविनाशी आत्मा को नष्ट हुआ अनुभव नहीं करता, अपना पुराना शरीर बदलकर वह नया शरीर पा लेता है ॥ ६५ ॥

रक्ते वस्त्रे यथात्मानं न रक्तं मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

टीका-रक्ते वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं यथा बुधो न रक्तं मन्यते तथा स्वदेहेऽपि कुसुमादिना रक्तं आत्मानं रक्तं न मन्यते बुधः ।

तत्ववेत्ता लाल शरीरमें रहने पर आत्मा को लाल नहीं मानता—

अन्वयार्थ-[यथा] जिस तरह [रक्ते वस्त्रे] अपने वस्त्र के लाल हो जाने पर मनुष्य [आत्मानं] अपने शरीर को [रक्तं] लाल हुआ [न मन्यते] नहीं मानता है [तथा] उसी तरह [स्वदेहे अपि रक्ते] अपने शरीर के भी लाल होने पर [बुधः] बुद्धिमान पुरुष [आत्मानं] अपने अमूर्तिक आत्मा को [रक्तं न मन्यते] लाल हुआ नहीं समझता ।

भावार्थ-यद्यपि वस्त्र और शरीर दोनों पौद्गलिक [भौतिक] जड़ पदार्थ हैं, दोनों ही लाल रङ्ग के कारण लाल हो सकतें हैं, परन्तु शरीर और वस्त्र दोनों अलग अलग पदार्थ हैं इसलिये वस्त्रके लाल रंग जाने पर भी शरीर लाल नहीं हो जाता, काला मनुष्य यदि लाल कपड़ा पहन ले तो वह मनुष्य लाल

नहीं हो सकता। और लाल मनुष्य काला वस्त्र पहन ले तो वह उस कपड़े के कारण काला नहीं हो जाता। न कोई मनुष्य कपड़े के रंग के अनुसार अपने शरीर को भी उस रंग का मानता है। इसी प्रकार आत्मा और शरीर भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। आत्मा रंग रहित अमूर्तिक पदार्थ है, उसका कोई भी रंग नहीं है, शरीर मूर्तिक पदार्थ है, उसका कोई न कोई रंग अवश्य होता है। परन्तु शरीर और आत्मा का भेद-विज्ञानी शरीर के लाल हो जानेपर अपने अमूर्तिक आत्मा को उस शरीर के सम्बन्ध से लाल रंग का नहीं समझता॥ ६६॥

एवं शरीरादिभिन्नमात्मानं भावयतोऽन्तरात्मानः शरीरादेः काष्ठादिना तुल्यताप्रतिभासे मुक्तियोग्यता भवतीति दर्शयन्नाह—

यस्य सस्पन्दमाभाति निष्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोजं स शमं याति नेतरः॥ ६७॥

टीका — यस्यात्मनः सस्पन्दं परिस्पन्दसमन्वितं शरीरादिरूपं जगत् आभाति प्रतिभासते। कथम्भूतं? निःस्पन्देन समं निःस्पन्देन काष्ठपाषाणादिना समं तुल्यं। कुतः तेन तत्समं? अप्रज्ञम् जडमचेतनं यतः। तथा अक्रियाभोगं क्रियापदार्थपरिस्थितिः भोगः सुखाद्यनुभवः तौ न विद्येते यत्र यस्यैवं सदातिभासते स किं करोति? स शमं याति शमं परमवीतरागतां संसारभोगदेहोपरि वा वैराग्यं गच्छति। कथम्भूतं शमं? अक्रियाभोगमित्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम्। क्रिया वाक्कायमनोव्यापारः। भोग इन्द्रियप्रणालिकया विषयानुभवनं विषयोत्सवः। तौ न विद्येते यत्र तमित्थम्भूतं शमं स याति। नेतरः तद्विलक्षणो बहिरात्मा॥ ६७॥

अन्तरात्मा को यह शरीर तथा जगत् जड़ प्रतीत होता है —

अन्वयार्थ —[यस्य] जिस आत्मतत्त्व-वेत्ता सम्यग्दृष्टि को [सस्पन्दं] हलन चलन आदि अनेक प्रकार की क्रिया तथा चेष्टा करता हुआ [जगत्] शरीर आदि यह जगत् [निस्पन्देन] क्रिया-शून्य स्थिरके [समं] समान [अप्रज्ञम्] ज्ञान रहित जड़ और [अक्रियाभोगं] क्रिया-रहित तथा सुख दुख आदि का अनुभव न करने वाला [आभाति] प्रतीत होता है। [सः] वह सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा [अप्रज्ञं] मिथ्याज्ञान या क्षमोपशम ज्ञानसे रहित तथा [अक्रियाभोगं] सांसारिक एवं शारीरिक क्रियाओंसे और इन्द्रिय-सुख दुख से रहित [शमं] शान्त भाव को [याति] प्राप्त होता है [इतरः न] उसके सिवाय अन्य कोई व्यक्ति -बहिरात्मा वैसी शान्ति को नहीं पा सकता है।

भावार्थ—शरीर को ही आत्मा समझने वाला बहिरात्मा अपने शरीर को आता जाता, विविध प्रकारके काम करता देखकर समस्त जगत् को क्रियाशील समझता है सुख दुःखको भोगनेवाला समझता है। परन्तु सम्यग्ज्ञानी अपने आत्मा का अनुभव करता हुआ तन्मय हो जाता है। उसे शरीर तथा जड़ जगत् काठ पत्थरकी तरह क्रिया-रहित, ज्ञानरहित, सुखदु ख आदि के अनुभव से रहित प्रतीत होता है। इस तरह यथार्थ

को जानने वाला अन्तरात्मा ही अपने अभ्यास से वीतरागमयी परम शान्ति को प्राप्त करता है ॥ ६७ ॥

सोऽप्येवं शरीरादिभिन्नमात्मानं किमिति न प्रतिपद्यत इत्याह —

शरीरकञ्चुकेनात्मा संवृतो ज्ञानविग्रहः।
नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥६८॥

टीका — शरीरमेव कंचुकं तेन संवृतः सम्यक् प्रच्छादितो ज्ञानमेव विग्रहः स्वरूपं यस्य। शरीरसामान्योपादानेऽप्यत्र कार्मणशरीरमेव गृह्यते। तस्यैव मुख्यवृत्त्या तदावरकत्वोपपत्तेः। इत्थंभूतो बहिरात्मा नात्मानं बुध्यते तस्मादात्मस्वरूपानवबोधात् अतिचिरं बहुतरकालं भवे संसारे भ्रमति ॥ ६८ ॥

शरीर से भिन्न अपने आत्मा को संसारी जीव क्यों नहीं जानता है—

अन्वयार्थ —(शरीर-कञ्चुकेन) ज्ञानावरण आदि आठ कर्ममय कार्माण शरीररूपी केंचुलीसे (संवृतज्ञानविग्रहः) अपने ज्ञान शरीरके ढक जाने पर (आत्मा) संसारी मिथ्यादृष्टि जीव (आत्मानं) अपने आत्मा को (न बुध्यते) नहीं जानता है (तस्मात्) इस कारण वह ससारमें (अतिचिरं) बहुत समय तक (भ्रमति) भ्रमण करता है।

भावार्थ--जैसे सर्प के शरीर के ऊपर का चर्म जब उतरने योग्य केंचुली बन जाता है तो केंचुली से उसका शरीर ढका रहता है, इसी तरह संसारी आत्मा कर्मरूप कार्माण शरीरके द्वारा ढका हुआ है। उस ज्ञानावरण आदि कर्मों के कारण से

संसारी आत्मा स्वयं अपने आत्मा का शुद्ध स्वरूप नहीं देख पाता, उसका अनुभव नहीं कर पाता। इसीलिये वह शरीर, परिवार, धन आदि अन्य पदार्थों के साथ मोह ममता आदि करता रहता है, उन विकृत भावों के द्वारा प्रति समय नये नये कर्म बांधता रहता है और उन कर्मोंके उदय से संसारमें दीर्घ काल तक घूमता रहता है ॥ ६८ ॥

यद्यात्मनः स्वरूपमात्वेन बहिरात्मानो न बुद्ध्यन्ते तदा किमात्मत्वेन ते बुद्ध्यन्ते इत्याह —

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मागमबुद्धयः ॥६९॥

टीका—तं देहमात्मानं प्रपद्यन्ते। के ते ? अबुद्धयो बहिरात्मानः। कया कृत्वा ? स्थितिभ्रान्त्या। क्व ? देहे। कथम्भूते देहे ? व्यूहे समूहे। केषां ? अणूनां परमाणूनां। किं विशिष्टानां ? प्रविशद्गलतां अनुप्रविशतां निर्गच्छतां च। पुनरपि कथम्भूते ? समाकृतौ समानाकारे सदृशा परापरोत्पादेन। आत्मना सहैकक्षेत्रे समानावगाहेन वा। इत्थम्भूते देहे या स्थितिभ्रान्तिः स्थित्या कालान्तरावस्थायित्वेन एकक्षेत्रावस्थानेन वा भ्रान्तिर्देहात्मनोरभेदाध्यवसायस्तया ॥ ६९ ॥

मूर्ख जीव शरीर को स्थिर तथा आत्मा रूप समझता है —

अन्वयार्थ—(अबुद्धयः) मूर्ख बहिरात्मा (देहे) अपने शरीरमें प्रति समय (प्रविशद्गलतां) आने, जाने वाले (अणूनां व्यूहे) औदारिक आदि शारीरिक परमाणुओंके समूह—

वर्गणाओं के होते हुए भी (समाकृतौ) शरीर का आकार वैसा ही बाहर समान बने रहने पर (स्थितिभ्रान्त्या) स्थिर रहनेके भ्रमसे (तम्) उस पुद्गल शरीर को (आत्मानं-प्रपद्यन्ते) आत्मा समझ लेते हैं।

भावार्थ--शरीरमे प्रति-समय असंख्य नई नई शारीरिक वर्गणाएँ (परमाणुओं का समूह) आती रहती हैं तथा शरीर से अलग होती रहती हैं। यह पूरण होना (पुत्) और गलते रहना(गल)पुद्गल (पुत्+गल) का स्वभाव है। परन्तु ऐसा होते हुए भी बाहर से शरीर उसी तरह के आकारमें बना हुआ दिखाई देता है। इस कारण जड़ शरीर से भिन्न आत्मा के चैतन्य स्वरूपको न समझने वाले मूर्ख जीव शरीर को अविनाशी स्थिर समझ लेते हैं तथा उस शरीर को ही आत्मा मान बैठते हैं ॥ ६९ ॥

ततो यथावदात्मस्वरूप्रतिपत्तिमिच्छन्नात्मानं देहाद् भिन्नं भावये-दित्याह —

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलं ज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

टीका —गौरोऽहं स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्यनेन प्रकारेणांगेन विशेष-णेन अविशेषयन् विशिष्टं अकुर्वन्नात्मानं धारयेन् चित्तेऽविचलं भाव-येत् नित्यं सर्वदा। कथम्भूतं ? केवलज्ञप्तिविग्रहं केवलज्ञानस्वरूपं। अथवा केवला रूपादिरहिता ज्ञप्तिरेवोपयोग एव विग्रहः स्वरूपं यस्य।

आत्मा काला गोरा मोटा पतला नहीं है—

अन्वयार्थ—(अहम्) मैं (गौरः) सफेद हूं, (स्थूलः) मोटा हूँ, (वा) अथवा (कृशः) पतला हूँ (इति) इस प्रकार (अङ्गेन) शरीर के साथ (केवलज्ञप्ति--विग्रहम) केवल ज्ञानरूपी शरीर वाले (आत्मानं) अपने आत्मा को (अविशेषयन्) विशिष्ट—विशेषण युक्त न करता हुआ पानी— न समझता हुआ (नित्यं) सदा (धारयेत्) धारण करे—समझे।

भावार्थ—आत्मा ज्ञानमय अमूर्तिक पदार्थ है इस कारण वह न सफेद है, न किसी अन्य रंग का है और न वह मोटा या पतला है, ये सब बातें रूप, रस, गन्ध, वर्ण वाले पुद्गल शरीर में हुआ करती हैं। इस कारण आत्मा को शरीर से भिन्न समझते हुए बुद्धिमान मनुष्य को शरीर काला गोरा, मोटा, पतला देखकर ऐसा न समझना चाहिये कि मेरा आत्मा सफेद काला या मोटा पतला है। आत्माको ऐसा मोटा पतला काला गोरा आदि तो शरीर और आत्मा को एक ही समझने वाला बहिरात्मा ही अज्ञान के कारण मानता है ॥ ७० ॥

यश्चैवं-विधमात्मानमेकाग्रमनसा भावयेत्तस्यैव मुक्तिर्नान्यस्ये-त्याह —

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः ।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥

टीका—एकान्तिकी अवश्यम्भाविनी तस्यान्तरात्मनो मुक्तिः । यस्य चित्ते अविचला धृतिः आत्मस्वरूपधारणं स्वरूपविषया प्रसत्तिर्वा । यस्य तु चित्ते नास्त्यचला धृतिस्तस्य नैकान्तिकी मुक्तिः ॥ ७१ ॥

अब यह बतलाते हैं कि किसको मुक्ति होती है और किसको नहीं होती —

अन्वयार्थ–(यस्य) जिसके (चित्ते) हृदयमें (अचला) शरीर और आत्मा को भिन्न समझने की अचल (धृतिः) धारणा है (तस्य) उस मनुष्य को (एकान्तिनी) एकान्तरूप से यानी -अवश्य (मुक्तिः) मुक्ति प्राप्त होती है और (यस्य) जिसके हृदयमें (अचला) शरीर और आत्माको भिन्न भिन्न समझने की निश्चल (धृतिः) श्रद्धा (नास्ति) नहीं है। (तस्य) उस मनुष्य को (एकान्तिनी, नियम से (मुक्तिः) मोक्ष (न) नहीं मिलती।

भावार्थ – संसार से मुक्त वही व्यक्ति हुआ करता है जिसके हृदयमें शरीर और आत्मा का भेद-विज्ञान होता है। जिसको शरीर और आत्मा को अलग समझने का श्रद्धान नहीं है, वह संसारसे कभी मुक्त नहीं हो सकता, ऐसा मिथ्यादृष्टि सदा संसारमें भ्रमण करता रहेगा ॥ ७१ ॥

चित्तोऽचलाधृतिश्च लोकसंसर्गं परित्यज्यात्मस्वरूपस्य संवेदनानुभवे सति स्यान्नान्यथेति दर्शयन्नाह—

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

आत्मचिन्तन करने वाला मुनि जनता के संसर्ग से दूर रहे—

अन्वयार्थ-(जनेभ्यः) मनुष्योंसे (वाक्) अनेकप्रकार की वातें सुनने को मिलती हैं (ततः) उन वातों के सुननेसे (स्पन्दः) आत्मामें हलन चलन होती है, उससे (मनसः) मनमें (चित्तविभ्रमः) विविध प्रकारके क्षोभ या चित्त विक्षेप (भवन्ति) होते हैं। (तस्मात्) इस कारण से (योगी) आत्मध्यान करने वाला मुनि (जनैः) अन्य मनुष्यों के साथ (संसर्गं) सम्बन्ध रखना (त्यजेत्) छोड़ दे ॥ ७२ ॥

भावार्थ – मुनि को मनुष्यों के संसर्गसे दूर रहकर सदा आत्म-ध्यान, आत्म-चिन्तन या आत्म-मनन करना चाहिये। क्योंकि मनुष्य आकरके अनेक प्रकारकी सांसारिक वातें किया करते हैं, उन वातों को सुनकर मुनिके हृदयमें राग द्वेष भावों का क्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक वात है। जब हृदयमें किसी तरह का क्षोभ पैदा हो जावे तब मुनि अपने शुद्ध आत्मा का चिन्तवन कैसे कर सकता है। इस कारण मुनि को जहां तक हो सके अन्य मनुष्योंके संसर्गसे दूर रहना चाहिये॥

तर्हि तैः संसर्गं परित्यज्याटव्यां निवासः कर्तव्य इत्याशंकां निराकुर्वन्नाह —

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥७३॥

टीका—ग्रामोऽरण्यमित्येवं द्वेधा निवासस्थानं अनात्मदर्शिनामलब्धात्मस्वरूपोपलम्भानां दृष्टात्मनामुपलब्धात्मस्वरूपाणां निवासस्तु विमुक्तात्मैव रागादिरहितो विशुद्धात्मैव निश्चलः चित्तव्याकुलतारहितः।

योगी का निवास अपने आत्मा में होता है, यह बताते हैं—

अन्वयार्थ—[अनात्मदर्शिनाम्] अनात्मदर्शियों यानी—आत्मा का अनुभव न करने वालोंको [ग्रामः] गांव, नगर अथवा [अरण्यम्] गांव नगर से दूर वन [इति] इस तरह [द्वेधा] दो प्रकार का [निवासः] रहने का स्थान होता है। [तु] परन्तु [दृष्टात्मनाम्] आत्मदर्शी—आत्मा का अनुभव करने वाले योगियों का [निचश्लः] निश्चल [निवासः] रहना [विविक्तात्मा एव] सबसे पृथक् अपने आत्मा में ही है ॥ ७३ ॥

भावार्थ---मनुष्योंसे भरे हुए गांव, नगर आदि या मनुष्यों से शून्य वन-भूमि रहने के लिये बाहरी क्षेत्र हैं। ध्यान करने वाले मुनि का वास्तवमें निवास क्षेत्र अपना अकेला आत्मा है। इसलिये आत्मा का अनुभव करने वाले मुनि को वन और गांवका विकल्प नहीं होता, वह अपने आत्मामें निमग्न होकर चाहे जहां आत्म-साधना कर सकता है। जिन व्यक्तियों को

आत्माका अनुभव नहीं होता, वे ही अपने रहनेके लिये नगरमें या वनमें रहनेका सोच विचार--विकल्प करते हैं ॥७३॥

अनात्मदर्शिनो दृष्टात्मनश्च फलं दर्शयन्नाह—

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

टीका-देहान्तरे भवान्तरे गतिर्गमनं तस्य बीजं कारणं किं ? आत्मभावना । क्व ? देहेऽस्मिन् अस्मिन् कर्मवशाद्गृहीते देहे । विदेहनिष्पत्तेः विदेहस्य सर्वथा देहत्यागस्य निष्पत्तेर्मुक्तिप्राप्तेर्बीजं स्वात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

संसार का तथा मुक्ति का मूल कारण—

अन्वयार्थ –(अस्मिन्) इस (देहे) शरीरमें (आत्मभावना) आत्मा की श्रद्धा (देहान्तरगतेः) अन्य शरीरमें जन्म लेने का यानी--जन्म मरण करने का (बीजं)मूल कारण है । (आत्मनि एव) अपने आत्मामें ही (आत्मभावना) अपने आत्मा की भावना करना (विदेहनिष्पत्तेः) मुक्त होने का (बीजं) मूल कारण है ।

भावार्थ—जब तक संसारी जीव शरीर को आत्मा समझता रहता है तब तक उसके अज्ञान और मिथ्या श्रद्धान के कारण कर्मका बन्ध हुआ करता है और कर्मोंके उदयसे उसके संसारमें जन्म मरण की परम्परा चलती रहती है । जब से

संसारी जीव अपने आत्मा को ही अपना आत्मा समझ कर शरीरसे मोह ममता छोड़ देता है, तबसे उसका कर्म-बन्धन टूटने लगता है और उसे कुछ समय पीछे मुक्ति मिल जाती है। इस कारण संसार भ्रमण का मूल कारण आत्मा का अश्रद्धान (श्रद्धा न होना) है और मुक्ति का मूल कारण अपने आत्मा का निश्चल श्रद्धान होना है ॥ ७४ ॥

तर्हि मुक्तिप्राप्तिहेतुः कश्चिद्गुरुर्भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव वा ।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ७५

टीका —जन्म संसारं नयति प्रापयति। कं? आत्मानं। कोऽसौ? आत्मैव देहादौ दृढात्मभावनावशात्। निर्वाणमेव च आत्मानमात्मैव नयति स्वात्मन्येवात्मबुद्धिप्रकर्षसद्भावात्। यत एवं तस्मात् परमार्थतो गुरुरात्मात्मनः। नान्यो गुरुरस्ति परमार्थतः। व्यवहारेण तु यदि भवति तदा भवतु ॥ ७५ ॥

अब यह बतलाते हैं कि आत्मा अपना गुरु आप ही है—

अन्वयार्थ—(आत्मा एव) आत्मा ही (आत्मानं) आत्मा को (जन्म) संसारमें (च) और (निर्वाणं एव) मुक्तिमें ही (नयति) ले जाता है। (तस्मात्) इस कारणसे (परमार्थतः) वास्तवमें (आत्मनः) आत्मा का (गुरुः) शिक्षा देने वाला गुरु (आत्मा एव) स्वयं आत्मा ही है, (अन्यः) अन्य कोई मनुष्य (न अस्ति) नहीं है।

भावार्थ – जब तक स्वयं आत्मा अपने आपको ठीक निश्चल भावना से नहीं समझ पाता तब तक वह शरीर, परिवार, संसार तथा विषय-भोगों से मोह ममता, रागद्वेष आदि करता हुआ जन्म-मरण करता रहता है, जैसा कि अनादि कालसे अब तक करता आया है। जब यह आत्मा संसार के सब जीवों तथा जड़ पदार्थों से अलग शुद्ध आत्मरूप को अटल श्रद्धा के साथ समझ लेता है तो मुक्ति मार्ग पर भी स्वयं ही चल पड़ता है, इस तरह आत्मा का वास्तवमें अन्य कोई व्यक्ति भला बुरा करने वाला गुरु नहीं है, यह तो अपना गुरु स्वयं (खुद) आप ही है ॥ ७५ ॥

देहे स्वबुद्धिर्मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह—

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम् ७६

टीका —देहादौ दृढात्मबुद्धिर विचलात्मदृष्टिर्बहिरात्मा। उत्पश्यन्नवलोकयन्। आत्मनो नाशं मरणं मित्रादिभिर्वियोगं च मम भवति इति बुद्ध्यमानो मरणाद्बिभेति भृशमत्यर्थम् ॥ ७६ ॥

अब यह बतलाते हैं कि बहिरात्मा मरनेसे क्यों डरता है—

अन्वयार्थ – (देहादौ) शरीर आदि पदार्थोंमें (दृढात्मबुद्धिः) अपने आत्मा की दृढ श्रद्धा रखने वाला बहिरात्मा (आत्मनः) शरीर रूपी आत्मा के (नाशं) नाश को (च)

और (मित्रादिभिः) मित्र, पुत्र आदि के (वियोगं) वियोग होने को -बिछुड़ने को (उत्पश्यन्) देखता हुआ (मरणात्) मरने से (बिभेति) डरता है ।

भावार्थ–मिथ्या श्रद्धालु वहिरात्मा शरीर को ही आत्मा समझता है तथा पुत्र, स्त्री, पिता-माता, भ्राता, मित्र आदि को अपना समझता है। उस आत्मा की उस अश्रद्धा तथा अज्ञान एवं मोह ममता के कारण जब वह अपने शरीर का नाश होता हुआ–मरता हुआ देखता है तो अपना नाश होना समझता है और अपने मित्र पुत्र को परभवमें जाते हुए देखता है तो उनके वियोग से व्याकुल होता है । इस तरह अपने शरीर तथा अपने मित्र-पुत्र आदिके शारीरिक नाशको आत्मा का नाश मान करके वह मरनेसे अत्यन्त डरता है ॥ ७६ ॥

यस्तु स्वात्मन्येवात्मबुद्धिः स मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह—

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः ।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम् ॥७७॥

टीका— मात्मन्येवात्मस्वरूप एव आत्मधीः अन्तरात्मा शरीर-गतिं शरीर -विनाशं शरीरपरिणतिं वा बालाद्यवस्थारूपां आत्मनो अन्यां भिन्नां निर्भयं यथा भवत्येवं मन्यते। शरीरोत्पादविनाशौ आत्मनो विनाशोत्पादौ (उत्पादविनाशौ इति साधुः) न मन्यते इत्यर्थः । वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रहणमिव ॥ ७७ ॥

अन्तरात्मा मरनेसे क्यों नहीं डरता, यह बतलाते हैं —

अन्वयार्थ–[आत्मनि एव] अपने आत्मामें ही [आत्मधीः] अपने आत्मा की समझ या श्रद्धा रखने वाला अन्तरात्मा [वस्त्रं] पुराने वस्त्र को [त्यक्त्वा] छोड़कर [वस्त्रान्तरं] अन्य नया वस्त्र ग्रहण करने के समान [शरीरगतिं] शरीरके परिणमन को अथवा शरीरके नष्ट होनेको [निर्भयं] निर्भय रूपसे [आत्मनः] आत्मा से [अन्यां मन्यते] भिन्न समझता है।

भावार्थ–सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा से शरीर को ऐसा ही अलग समझता है जिस तरह कि शरीर पर पहनने ओढ़नेवाले कपड़े को शरीरसे भिन्न समझता है। तो जिस तरह एक पुराना कपड़ा फट जाने पर दूसरा नया कपड़ा पहनते समय दुख या व्याकुलता नहीं होती, इसी तरह सम्यग्दृष्टि भी शरीर के नाशको --यानी मरने को भी टूटा फूटा, निकम्मा शरीर छोड़ना समझता है, इसलिये अपने रहने के लिये नया शरीर लेनेमें उसे भय नहीं होता ॥ ७७ ॥

एवं च स एव बुध्यते यो व्यवहारेऽनादरपरः यस्तु तत्रादरपरः स न बुध्यत इत्याह—

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्त्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥

टीका— व्यवहारे विकल्पाभिधानलक्षणे प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिस्वरूपे वा सुपुप्तोऽप्रयत्नपरो यः स जागर्त्यात्मगोचरे आत्मविषये संवेदनोद्यतो भवति। यस्तु व्यवहारेऽस्मिन्नुक्तप्रकारे जागर्ति स सुपुप्तः आत्मगोचरे ॥ ७८ ॥

आत्मध्यानी मुनि का तथा संसारी जीव का सोना और जागना किस तरह का है, यह बतलाते हैं —

अन्वयार्थ —(यः) जो मनुष्य (व्यवहारे) संसार के, शरीरके, विषय-भोगोंके, परिवारके, व्यावहारिक कार्यों में (सुपुप्तः) सोया हुआ रहता है यानी—उन खाने पीने, धन संचय आदि कार्योंको नहीं करता (सः) वह मनुष्य--योगी मुनि (आत्मगोचरे) आत्मा के चिन्तनमें (जागर्ति) जागता रहता है (च) और जो (अस्मिन् व्यवहारे) संसारके इस व्यवहार कार्यमें (जागर्ति) जागता है लगा रहता है वह (आत्मगोचरे) आत्माके विषयमें (सुपुप्तः) सोया रहता है।

भावार्थ— मनुष्य जब अपने शरीरके पोषणमें, परिवारके संरक्षणमें, तथा धन-उपार्जन आदि व्यवहार कार्योंमें मन लगाकर जुटा रहता है, उस समय वह अपने आत्म-अनुभव के कार्य से सोया हुआ रहता है यानी --आत्म-चिन्तन, आत्म-मनन, आत्म-ध्यान आदि कोई भी आत्मा का कार्य नहीं करता। और जब आत्मध्यानमें लगता है तो संसारके कार्यों

से उसे अलग होना पड़ता है । इस तरह आत्मध्यानी मुनि आत्माके विषयमें जागते रहते है, संसारके व्यवहारमें सोये रहते हैं । तथा संसारी जीव अपने सांसारिक व्यवहारमें जागते रहते हैं, वे आत्माके विषयमें सोये रहते हैं॥ ७८ ॥

यश्चात्मगोचरे जागर्ति स मुक्तिं प्राप्नोतीत्याह—

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥ ७९ ॥

टीका — आत्मानमन्तरेऽभ्यन्तरे दृष्ट्वा देहादिकं बहिर्दृष्ट्वा तयोरात्मदेहयोन्तरविज्ञानात् अच्युतो मुक्तो भवेत् । ततोऽच्युतो भवन्नप्यभ्यासाद्भेदविज्ञानभावनातो भवति न पुनर्भेदविज्ञानमात्रात् ७९.

आत्मा और शरीरमें अन्तर तथा मुक्त होने का उपाय —

अन्वयार्थ - (अन्तरे) भीतर (आत्मानं) आत्मा को (दृष्ट्वा) देखकरके और (बहिः) बाहर (देहादिकं) शरीर पुत्र, मित्र, धन आदि को (दृष्ट्वा) देखकरके (तयोः) उन आत्मा और शरीरके (अन्तरविज्ञानात्) भेद-विज्ञानसे (अभ्यासात्) भेद-विज्ञानके अभ्यास से (अच्युतः) अविनाशी-मुक्त (भवेत्)होना चाहिये ।

भावार्थ—शरीर मूर्तिक जड़ पदार्थ है इस कारण बाहर नेत्रों से दिखाई देता है परन्तु आत्मा शरीरके भीतर अमूर्तिक चेतन पदार्थ है, उसे भीतरी अनुभव से जाना जाता है, यह ही शरीर और आत्मामें स्पष्ट मोटा अन्तर है । शरीर और आत्मा के

इस भेदभाव का अभ्यास किया जावे तो शरीरसे मोह-ममता कम होती जाती है, आत्मामें रुचि तथा लीनता बढ़ती जाती है। उससे कर्म-बन्धन ढीला पड़ता है जिससे कालान्तरमें आत्मा समस्त कर्मों से छूटकर अजर--अमर अविनाशी मुक्त बन जाता है। । ७९ ॥

यस्य च देहात्मनोर्भेददर्शनं तस्य प्रारब्धयोगावस्थायां निष्पन्न-योगावस्थायां च कीदृशं जगत्प्रतिभासत इत्याह्—

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत् ।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात्काष्ठपाषाणरूपवत् ॥८०॥

टीका— पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य देहाद्भेदेन प्रतिपन्नात्मस्वरूपस्य योगिनः विभात्युन्मत्तवज्जगत् स्वरूपचिंतनविकलत्वाच्छुभेतरचेष्टा युक्तमिदं जगत् नानावाह्यविकल्पैरुपेतमुन्मत्तमिव प्रतिभासते । पश्चान्निष्पन्नयोगावस्थायां सत्यां स्वभ्यस्तात्मधियः सुष्ठुभावितमात्मस्वरूपं येन तस्य निश्चलात्मस्वरुपमनुभवतो जगद्विषयचिन्ताभावात् काष्ठपाषाणवत्प्रतिभाति । न तु परमौदासीन्यावलम्वात् ॥८०॥

अब यह बताते हैं कि आत्म-अनुभव के समय यह जगत् कैसा दिखाई देता है —

अन्वयार्थ—[दृष्टात्मतत्वस्य] आत्मस्वरूपके अनुभव करने वाले पुरुष को [पूर्वं] पहले [जगत्] यह संसार यानी—ससारी जीव [उन्मत्तवत्] पागल की तरह [विभाति] जान पड़ता है। [पश्चात्]उसके बाद [स्वभ्यस्तात्मधियः]

आत्म-अनुभव के अच्छे अभ्यासी मनुष्य को (काष्ठपाषाणरूपवत्) काठ पत्थर के समान यह जगत् प्रतीत होता है।

भावार्थ—जब कोई मनुष्य पहले पहले अपने आत्मा का अनुभव करता है, तब आत्म अनुभव न करने वाले, शरीर, परिवार आदि के कार्यों में लगे हुए अन्य संसारी जीव पागल सरीखे दीखते हैं। क्यों कि जैसे पागल अपने होशमें न रहकर दूसरी दूसरी चेष्टाएं करता है, अपनी भलाई का कोई काम नहीं करता, इसीतरह यह जगत् भी आत्म-कल्याण का कार्य नहीं कर रहा है। जब उस आत्म-अनुभवीको अपनी आत्म अनुभूतिका अच्छा अनुभव हो जाता है, तब उसे अपने अनुभव करने की चेष्टा ही वास्तविक कार्य प्रतीत होता है। उसे संसारी जीव आत्म-कल्याणके कार्य न करते हुए देखकर निर्जीव-से यानी—लकड़ी पत्थरसे प्रतीत होते हैं॥ ८०॥

ननु स्वभ्यस्तात्मधियः इति व्यर्थम् शरीराद्भेदेनात्मनस्तत्स्वरूपविद्भ्यः श्रवणात्स्वयं वाऽन्येषां तत्स्वरूपप्रतिपादनान्मुक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक्॥ ८१

टीका—अन्यत उपाध्यायादेः कामं अत्यर्थं शृण्वन्नपि कलेवराद्भिन्नमाकर्णयन्नपि ततो भिन्नं तं स्वयमन्यान् प्रति वदन्नपि यावत्कलेवरा-

-द्भिन्नमात्मानं न भावयेत्। तावन्न मोक्षभाक् मोक्षभाजनं तावन्न भवेत्॥

अब यह कहते हैं कि आत्मा केवल कहने सुनने से मुक्त नहीं होता—

अन्वय-अर्थ— (अन्यतः) पढ़ाने वाले, शास्त्र सुनाने वाले या उपदेशक आदि अन्य व्यक्ति से (कामं) खूब अच्छी तरह आत्मा का स्वरूप (शृण्वन्नपि) सुनकर भी और दूसरों को आत्मा का स्वरूप (वदन् अपि अपने मुखसे कहता हुआ भी (यावत्) जब तक (कलेवरात्) शरीर से (भिन्नं)अलग (आत्मानं)अपने आत्मा को (न भावयेत्) भावना न करे (तावत्) तब तक वह(मोक्ष-भाक्) मुक्त (न) नहीं हो सकता।

भावार्थ—जिस तरह कोई मनुष्य मिश्री के मिठास की प्रशंसा दूसरे मनुष्यों के मुख से सुनता रहे तो इस क्रिया से उसका मुख मिश्री के मिठास से मीठा नहीं हो सकता, वह तो मिश्री के खाने पर ही मीठा होगा। इसी तरह जन्म भर आत्मा का उपदेश दूसरे मनुष्यों से सुनते रहो, दूसरों को जन्म भर आत्मा की चर्चा सुनाते रहो, इससे आत्मा शुद्ध मुक्त नहीं हो सकता। आत्मा तो शुद्ध और मुक्त तभी होगा जब आत्म-रसका आस्वदा—अनुभव किया जायगा ॥ ८१ ॥

तद्भावनायां च प्रवृत्तोऽसौ किं कुर्यादित्याह —

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्त्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ८२

टीका — देहाद्व्यावृत्य शरीरात्पृथक्कृत्वा आत्मानं स्वस्वरूपं आत्मनि स्थितं तथैव भावयेत् शरीराद्भेदेन दृढतरभेदभावनाप्रकारेण भावयेत्। यथा पुनः स्वप्ने स्वप्नावस्थायां देहे उपलब्धेऽपि तत्र आत्मानं न योजयेत् देहमात्मतया नाध्यवस्येत् ॥ ८२ ॥

आत्मा और शरीर की भेद-भावना कितनी दृढ करनी चाहिये, यह बतलाते है —

अन्वयार्थ—(तथैव) उसही प्रकार (आत्मान) अपने आत्माको (देहात्) शरीरसे (व्यावृत्य) हटा करके ऐसे (आत्मनि) अपने ही आत्मामें (भावयेत्) भावना करे या चिन्तन या मनन करना चाहिये (यथा) जैसे कि (पुनः) फिर (आत्मानं) आत्मा को (देहे) शरीर में (स्वप्नेऽपि) स्वप्न में भी (न योजयेत्) न तमन्य करा सके या शरीर-मय समझ सके।

भावार्थ—बुद्धिमान आत्मदर्शी सम्यग्दृष्टि को अपने शरीर में आत्मबुद्धि इतनी दृढ़ता और अभ्यास के साथ दूर कर देनी चाहिये कि सोते समय भी, स्वप्न देखते हुए भी उसके मन में कभी शरीर को आत्मा समझने का विचार या भावना जाग्रत न हो सके ॥ ८२ ॥

यथा परमौदासीन्यावस्थायां स्वपरविकल्पस्त्याज्यस्तथा व्रतविकल्पोऽपि। यतः—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ८३

टीका — अपुण्यमधर्मः अव्रतैर्हिंसादिविकल्पैः परिणतस्य भवति पुण्यं धर्मो व्रतैः अहिंसादिविकल्पैः परिणतस्य भवति । मोक्षः पुनस्तयोः पुण्यापुण्ययोर्व्ययो विनाशो मोक्षः यथैव हि लोहशृङ्खला बन्धहेतुस्तथा सुवर्णशृङ्खलाऽपि । अतो यथोभयशृङ्खलाभावाद् व्यवहारे मुक्तिस्तथा परमार्थेऽपीति । ततस्तस्मात् मोक्षार्थी अव्रतानीव इव शब्दो यथार्थः यथाऽव्रतानि त्यजेत्तथा व्रतान्यपि ।। ८३ ।।

अब मुक्ति पानेका क्रमिक उपाय बतलाते हैं-

अन्वयार्थ- (अव्रतैः) अव्रतों यानी—हिंसा आदि पांच पापों द्वारा (अपुण्यं) दुखदायक नरक निगोद आदि दुर्गति में ले जाने वाले अशुभ कर्म का बंध होता है। (व्रतैः) अहिंसा, सत्य आदि व्रतों के द्वारा (पुण्यं) सुख शान्ति देने वाले ऐसे-वेदनीय, मनुष्य देव गति में जन्म देने वाले पुण्य यानी—शुभ कर्म का बन्ध होता है । और (मोक्षः) मुक्ति (तयोः) शुभ और अशुभ यानी-पुण्य और पाप कर्मों के (व्ययः) नाश होने से प्राप्त होती है। (ततः) इस कारण (मोक्षार्थी) मोक्षका इच्छुक भव्य व्यक्ति (अव्रतानि इव) पहले पहल त्याग किये हुए हिंसादिक पापोंकी तरह (व्रतानि अपि) आत्मध्यान में निमग्न होते समय व्रत-चर्या भी (त्यजेत्) छोड़ देवे ।

भावार्थ—जो मनुष्य संसार-भ्रमण से मुक्त होना चाहता है उसको यह बात समझ लेनी चाहिये कि अहिंसा आदि व्रतों का पालन न करने से दुखदायक असाता वेदनीय, नरक गति आदि अशुभ कर्मों का बंध होता रहता है। पांच पापों का त्याग करके पांच अणुव्रत या महाव्रत आचरण करने से सुख साता करने वाले पुण्य कर्मों का बंध होता है। और व्रतचर्या भी छोड़ कर शुक्लध्यान करने से मुक्ति होती है॥ ८३॥

कथं तानि त्यजेदिति तेषां त्यागक्रमं दर्शयन्नाह—

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः॥ ८४॥

टीका—अव्रतानि हिंसादीनि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितो भवेत्। पश्चात्तान्यपि त्यजेत्। किं कृत्वा? सम्प्राप्य। किं तत्? परमं पदं परमवीतरागतालक्षणं क्षीणकषायगुणस्थानं। कस्य तत्पदं? आत्मनः।

अब यह बतलाते हैं कि किस अवस्था में किसका त्याग करना चाहिये—

अन्वयार्थ—इस ही लिये सम्यग्दृष्टि जीव [अव्रतानि] पांचों पापों को [परित्यज्य] त्याग करके [व्रतेषु] अहिंसा आदि अणुव्रतों तथा महाव्रतों में [परिनिष्ठितः] चर्या करे यानी—अणुव्रत महाव्रतों का आचरण करे और [आत्मनः] आत्मा के [परमं] परम—उत्कृष्ट [पदं] पदको [सम्प्राप्य] पाकर [तानि अपि] उन व्रतों को भी [त्यजेत्] छोड़ देवे।

भावार्थ—मोक्ष के इच्छुक मनुष्य को सबसे पहले दुर्गतियों में ले जाने वाले पाप कार्यों का त्याग करना चाहिये। आत्म-श्रद्धा के साथ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पांच व्रतों का अपनी शक्ति के अनुसार गृहस्थ- अवस्था में अणुव्रत रूप से तथा मुनि अवस्था में महाव्रत रूपसे आच-रण करना चाहिये। मुनि बन करके वह मुख्यरूप से आत्म-ध्यान करता रहे। आत्मध्यान करते समय बाहरी व्रत-चर्या छूट जाती है। परन्तु ध्यान सदा नहीं बना रहता है, अतः जब ध्यान से निवृत्त हो जावे तब फिर व्रत-आचरण करता रहे। ऐसा करते करते जब शुक्लध्यान द्वारा मोहनीय कर्म का नाश होकर वीतराग चारित्र (यथाख्यात चारित्र) हो जाता है, आत्मा पूर्ण वीतराग बन जाता है, तब व्रतचर्या सदा के लिये छूट जाती है। जब तक वीतराग (अर्हन्त) पद न मिले तब तक महाव्रत पालन करते रहना चाहिये। ॥ ८४ ॥

कुतोऽव्रतव्रतविकल्पपरित्यागे परमपदप्राप्तिरित्याह —

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥८५॥

टीका—यदुत्प्रेक्षाजालं। कथम्भूतं ? अन्तर्जल्पसंपृक्तं अन्तर्वचन-व्यापारोपेतं। आत्मनो दुःखस्य मूलं कारणं। तन्नाशे तस्योत्प्रेक्षाजाल-स्य विनाशे। इष्टमभिलषितं यत्पदं तच्छिष्टं प्रतिपादितम् ॥ ८५ ॥

दुख का मूल कारण क्या है, सो बतलाते हैं—

अन्वयार्थ —(आत्मनः) आत्मा—का (यत्) जो (अन्तर्जल्प-सम्पृक्तं) मनके भीतर होने वाले वचन आलाप से सहित (उत्प्रेक्षाजालं) विविध प्रकार की कल्पनाओं का जाल है वह (दुःखस्य मूलं) दुखका मूल कारण है। (तन्नाशे) उसके नष्ट हो जाने पर (शिष्टं) जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट--कहागया (इष्टं) इष्ट-- अभिलषित-इच्छित (परं पदम्) उत्कृष्ट पद--मोक्ष प्राप्त होता है।

भावार्थ — बाहर से बात-चीत बन्द करके यानी-मौन रहकर भी जबतक मनके भीतर अनेक प्रकारकी वार्तालाप—बात चीत चलती रहती है, तब तक आत्मामें अनेक तरहके विकल्प बनते तथा बिगड़ते रहते हैं। उन विकल्पोंसे संसार-भ्रमण कराने वाला, दुखदायक कर्म-बन्ध होता रहता है। जब आत्मा का वह अन्तर्जल्प यानी—भीतरी वचन-व्यापार बन्द हो जाता है, तबही शुक्ल - ध्यान द्वारा कर्मों का क्षय होकर वीतरागता सर्वज्ञता, अनन्त सुख और अनन्त बल प्रगट होता है ॥८५॥

तस्य चोत्प्रेक्षाजालस्य नाशं कुर्वाणोऽनेन क्रमेण कुर्यादित्याह—

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥

टीका — अव्रतित्वावस्थाभावि विकल्पजालं व्रतमादाय विनाशयेत् व्रतित्वावस्थाभावि पुनर्विकल्पजालं ज्ञानपरायणो ज्ञानभावना-

निष्ठो भूत्वा परमवीतरागतावस्थायां विनाशयेत्। सयोगिजिनावस्थायां परात्मज्ञानसम्पन्नः परं सकलज्ञानेभ्यः उत्कृष्टं तच्च तदात्मज्ञानं च केवलज्ञानं तेन सम्पन्नो युक्तः स्वयमेव गुर्वाद्युपदेशानपेक्षः परः सिद्ध-स्वरूप आत्मा भवेत् ॥ ८६ ॥

परमात्मा बनने के लिये क्रम बतलाते हैं—

अन्वयार्थ— (अव्रती) अव्रती–व्रतरहित मनुष्य (व्रतं-आदाय) प्रतिज्ञा के साथ व्रतों का आचरण करे, अणुव्रती श्रावक तथा महाव्रती मुनि बने। और (व्रती) व्रती पुरुष (ज्ञान-परायणः) आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें तत्पर बने। (परात्मज्ञानसम्पन्नः) उत्कृष्ट आत्मज्ञानी (स्वयमेव) अपने आप ही (परः) उत्कृष्ट (भवेत्) हो जाता है।

भावार्थ—अपना कल्याण करने वाले सम्यग्दृष्टि मनुष्य को अव्रतों (पांच पापों) का त्याग करना चाहिये। फिर व्रती बनकर अच्छे आत्म-ज्ञानका और आत्मध्यानका अभ्यास करना चाहिये। जो मनुष्य आत्म-ज्ञान ध्यान का दृढ़ अभ्यासी बन जाता है, वह उस ज्ञान ध्यान के द्वारा (शुक्ल ध्यानसे) स्वयं वीतराग सर्वज्ञ पद प्राप्त कर लेता है॥ ८६ ॥

यथा च व्रतविकल्पो मुक्तिहेतुर्न भवति तथा लिङ्गविकल्पोऽपीत्याह—

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मादेते लिङ्गकृताग्रहाः ॥८७॥

टीका—लिङ्गम् जटाधारणनग्नत्वादिदेहाश्रितं दृष्टं शरीरधर्मतया प्रतिपन्नं। देह एवात्मनो भवः संसारः। यत एवं तस्माद्ये लिङ्गकृताग्रहाः लिङ्गमेव मुक्तेर्हेतुरिति कृताभिनिवेशास्ते न मुच्यंते। कस्मात् भवात्।

केवल द्रव्यलिङ्ग से मुक्ति नहीं मिलती—

अन्वयार्थ—(लिङ्गम्) साधुपदका चिन्ह नग्न-मुद्रा आदि (देहाश्रितं) शरीरसे सम्बन्धित (दृष्टं) दीख पड़ता है। और (देहएव) यह शरीर ही (आत्मनः) आत्मा का (भवः) संसार है। (तस्मात्) इस कारण (ये) जो व्यक्ति यानी साधु मुनि (लिङ्गकृताग्रहाः) केवल बाहरी मुनि -लिङ्ग का ही आग्रह करते हैं – भावलिङ्ग धारण नहीं करते (ते) वे मुनि (भवात्) संसार से (न मुच्यन्ते) मुक्त नहीं होते।

भावार्थ— संसार से मुक्त होने के लिये सब परिग्रह का त्याग करके, पहनने की लंगोटी भी छोड़कर नग्न भेप धारण करना आवश्यक है, बिना नग्न हुए कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं होता परन्तु शरीर की नग्नता तो शरीरके आश्रित एक बाहरी चीज है, उस शारीरिक नग्नताके साथ जब तक अन्तरङ्ग की नग्नता न हो-- चौदह प्रकारके (मिथ्यात्व, ४ कषाय,९ नौ-कषाय) अन्तरङ्ग परिग्रह का भी त्याग न हो तब तक संसार से मुक्ति नहीं मिलती। इस द्रव्यलिङ्ग के साथ ही भावलिङ्ग भी अवश्य होना चाहिये ॥ ८७ ॥

येऽपि 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरतः स एव परमपदयोग्य' इति वदन्ति तेऽपि न मुक्तियोग्या इत्याह—

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मादेते जातिकृताग्रहाः ॥८८॥

टीका— जातिर्ब्राह्मणादिर्देहाश्रितेत्यादि सुगमं ॥ ८८ ॥

केवल उच्चकुल में पैदा होना भी मुक्ति का कारण नहीं है —

अन्वयार्थ—(जातिः) ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जाति (देहाश्रिता) शरीर के आश्रित (दृष्टा) देखी जाती है और (देह एव) शरीर ही (आत्मनः) आत्मा का (भवः) संसार है। (तस्मात्) इस कारण से (ये) जो मनुष्य (जातिकृताग्रहाः) मुक्ति पाने के लिये जाति का ही हठ करते हैं (ते) वे व्यक्ति (भवात्) संसार से (न मुच्यन्ते) नहीं छूटते।

भावार्थ—आगममें बतलाया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जातियों के व्यक्ति ही मुनि-दीक्षा ग्रहण करके मुक्त हो सकते हैं। परन्तु मुनि यदि केवल अपनी जातिका अभिमानी बना रहे वह, अपने शरीर से आत्मा को भिन्न जान करके मोह ममता न छोड़े, आत्मामें तन्मय होकर ध्यान न करे तो वह मुक्त नहीं हो सकता। ब्राह्मण आदि जातिमें जन्म लेना शरीर से सम्बन्धित है और शरीरके मोह से ही संसार का भ्रमण होता है। इस कारण अपनी जाति का आग्रह करने वाले मुनि कभी मुक्त नहीं होते ॥ ८८ ॥

नहि ब्राह्मणादिजातिविशिष्टो निर्वाणादिदीक्षया दीक्षितो मुक्तिं प्राप्नोतीति वदन्तं प्रत्याह

जातिलिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः ।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८६॥

टीका — जातिलिङ्गरूपविकल्पो भेदस्तेन येषां शैवादीनां समयाग्रहः आगमानुबंधः उत्तमजातिविशिष्टं हि लिंगं मुक्तिहेतुरित्यागमे प्रतिपादितमतस्तावन्मात्रेणैव मुक्तिरित्येवंरूपो येषामागमाभिनिवेशः तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥ ८६ ॥

जाति और वेष के आग्रह से ही कोई मुक्त नहीं हो सकता—

अन्वयार्थ— (येषां) जिन मनुष्योंके (जातिलिङ्गविकल्पेन) अपनी जाति और अपने साधु-लिङ्ग—नग्न-वेष के विकल्प को लेकर (समयाग्रहः) शास्त्रीय हठ है (ते अपि) वे मनुष्य भी (आत्मनः) आत्मा के (परमं पदं) परम-पद को —मुक्तिको (न प्राप्नुवन्ति एव) नहीं पाते हैं ।

भावार्थ—जिन मनुष्यों के हृदयमें शास्त्रीय विधान का यह आग्रह बना रहे कि ब्राह्मण, क्षत्रिय वर्ण, जाति से तथा मुनिके नग्न वेषके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसे मनुष्य भी संसारसे मुक्त नहीं हो सकते । क्योंकि शास्त्रों में द्विज जातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) में जन्म लेना तथा समस्त आरम्भ परिग्रह का त्याग करके नग्न होकर मुनि-दीक्षा लेना भी मुक्तिका कारण जो बतलाया है परन्तु इसके सिवाय यह भी

बतलाया है कि मुनि को शरीर और आत्माका भेद-ज्ञान होना तथा समस्त संकल्प विकल्प छोड़कर आत्मामें तन्मय होकर ध्यान करना भी परम आवश्यक है। इस कारण बिना भेद-विज्ञान और शुक्लध्यान प्राप्त किये केवल अपनी उच्च जाति और नग्न वेष के आग्रहसे किसीको मुक्ति नहीं मिलती ॥८९॥

तत्पदप्राप्त्यर्थं जात्यादिविशिष्टे शरीरे निर्ममत्वसिद्ध्यर्थं भोगेभ्यो व्यावृत्यापि पुनर्मोहवशाच्छरीर एवानुबन्धं प्रकुर्वन्तीत्याह —

यत्त्यागाय निवर्त्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥९०॥

टीका— यस्य शरीरस्य त्यागाय निर्ममत्वाय भोगेभ्यः स्रग्वनितादिभ्यो निवर्तन्ते। तथा यदवाप्तये यस्य परमवीतरागत्वस्यावाप्तये प्राप्तिनिमित्तं भोगेभ्यो निवर्तन्ते। प्रीतिमनुबंधं तत्रैव शरीरे एव कुर्वन्ति द्वेषं पुनरन्यत्र वीतरागत्वे। के ते? मोहिनो मोहवन्तः ॥ ९० ॥

बाहरी त्याग करके भी मोही जीव शारीरिक मोह का त्यान नहीं करते हैं—

अन्वय—अर्थ—[यत् त्यागाय] जिस शरीर की मोह—ममता को छोड़ने के लिये और [यद् अवाप्तये] जिस वीतराग भाव को प्राप्त करने के लिये [भोगेभ्यः] विषय भोगों से [निवर्तन्ते] निवृत्त होते हैं यानी—विषय भोगों का त्याग करते हैं, [मोहिनः] मोही जीव [तत्र एव] उसी शरीर में

[प्रीतिं कुर्वन्ति] प्रेम-राग करते हैं और [अन्यत्र] वीत-रागता में [द्वेषं] द्वेष--अरुचि करते हैं।

भावार्थ—शारीरिक मोह छोड़ने के लिये और वीतरा-गता पाने के लिये ही गृहस्थाश्रम के विषय में भोगोंका त्याग करके मुक्तिदीक्षा ग्रहण की जाती है। मोही जीव मुनि होकर भी शरीरसे राग भाव बनाये रहते हैं और वीतरागता से द्वेष करते हैं, वीतराग भाव पाने में रुचि नहीं करते। ऐसे मोही जीव संसार-सागर से पार नही हो सकते ॥ ९० ॥

तेषां देहे दर्शनव्यापारविपर्यासं दर्शयन्नाह

अनन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पङ्गोर्यथान्धके।
संयोगाद्दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः ॥९१॥

टीका— अनन्तरज्ञो भेदाग्राहकः पुरुषो यथा पङ्गोर्दृष्टिमन्धके सन्धत्ते आरोपयति। कस्मात् संयोगात् पंग्वन्धयोः सम्बन्धमाश्रित्य। तद्वत् तथा देहात्मनोः संयोगादात्मनो दृष्टिमंगेऽपि सन्धत्ते अंगं (गः) पश्यतीति (मन्यते) मोहाभिभूतो बहिरात्मा ॥ ९१ ॥

शरीर और आत्मा का भेद न समझने वाला मिथ्या-दृष्टि शरीर को ही देखने जानने वाला समझता है—

अन्वय-अर्थ- (अनन्तरज्ञः) शरीर और आत्मा के भेद भाव को न समझने वाला मनुष्य (यथा) जिस तरह (पङ्गोः) लङ्गड़े मनुष्य की (दृष्टिं) दृष्टि—निगाह को (अन्धके) अन्धे पुरुष में (सन्धत्ते) समझता है (तद्वत्) उसी तरह

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव (सयोगात्) शरीर व आत्मा के संयोग के कारण (आत्मनः) आत्मा की (दृष्टि) देखने की शक्ति को (अङ्ग अपि) शरीरमें (सन्धन्ते) समझता है ।

भावार्थ–एक वन में एक अन्धा मनुष्य रहता था जो अच्छा हृष्ट पुष्ट बलवान तो था परन्तु अपने नेत्रों से देख नहीं सकता था, उसी के साथ एक लंगड़ा मनुष्य था जो चल फिर नहीं सकता था परन्तु उसे अच्छी तरह दिखाई देता था, जब वे दोनों भीख मांगने जाते थे तो लङ्गड़ा मनुष्य अन्धे मनुष्य के कन्धे पर बैठ जाता था, वह उस अन्धे को मार्ग दिखाता जाता था और अन्धा उसके बताये-अनुसार ठीक मार्ग पर चलता जाता था। इस तरह उनको आते जाते देख कर बहुत से अनभिज्ञ (अजानकार) मनुष्य यों समझते थे कि अन्धे मनुष्य को ठीक दिखाई देता है और वह अपनी आंखों की दृष्टि (निगाह) से ठीक देख कर चलता है, परन्तु वास्तव में उसके चलने में उसके कन्धे पर बैठे लंगड़े पुरुष की दृष्टि (निगाह) काम करती थी, ठीक मार्ग दिखाती थी। इसी प्रकार जो मिथ्यादृष्टि मनुष्य शरीर और आत्मा का भेदभाव नहीं समझते, वे समझते हैं कि हमारा शरीर ही यानी-हमारे नेत्र ही देखते हैं, उनको इस यथार्थ बात का ज्ञान नहीं होता कि शरीर तो ज्ञानशून्य जड़ है, उसे देखने भालने

का ज्ञान नहीं है, देखने भालने वाला तो शरीर में विराजमान ज्ञानधारी आत्मा ही है। यदि जड़ शरीर के नेत्र ही देखने वाले होते तो शरीर से आत्मा के निकल जाने पर मृतक (मुर्दा) शरीर के नेत्र क्यों नहीं देखते। इस कारण सिद्ध होता है कि शरीरसे भिन्न आत्मा देखने जानने वाला है ॥ ९१ ॥

अन्तरात्मा किं करोतीत्याह—

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥९२॥

टीका—दृष्टभेदः पंग्वन्धयोः प्रतिपन्नभेदः पुरुषो यथा पंगोर्दृष्टिमन्धे न योजयेत्। तथा आत्मनो दृष्टिं देहे न योजयेत्। कोऽसौ ? दृष्टात्मा देहभेदेन प्रतिपन्नात्मा ॥ ९२ ॥

आत्म-द्रष्टा को ऐसा न समझना चाहिये—

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (दृष्ट-भेदः) अन्धे और लङ्गड़े मनुष्य के भेद-भाव को ठीक समझने वाले मनुष्य को (पङ्गोः दृष्टिं) लंगड़े मनुष्य की देखने की शक्ति को—निगाह को (अन्धे) अन्धे पुरुष में (न योजयेत्) नहीं जोड़ना चाहिये (तथा) उसी तरह (दृष्टात्मा) आत्मा को जानने वाले मनुष्य को (आत्मनः) आत्मा की (दृष्टिं) दृष्टि को यानी—आत्मा की देखने जानने वाली चेतन शक्ति को (देहे) शरीर में (न) नहीं (योजयेत्) समझना चाहिये।

भावार्थ—जैसे अन्धे मनुष्य के अन्धेपन को समझने वाले मनुष्य समझते हैं कि अन्धा अपने नेत्रों के द्वारा ठीक नहीं चल रहा है, ठीक मार्ग पर चलाने वाला उसके कन्धे पर सवार हुआ लंगड़ा मनुष्य है। इसी प्रकार से आत्मा और शरीर के भेद-भाव को समझने वाले सम्यग्दृष्टि आत्मा को चैतन्य (देखने जानने की) शक्ति शरीर की न समझ कर आत्मा की ही समझनी चाहिये ॥ ९२ ॥

बहिरन्तरात्मनोः काऽवस्था भ्रान्तिः का वाऽभ्रान्तिरित्याह—

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम् ।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थात्मदर्शिनः ॥९३॥

टीका—सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमः प्रतिभासते । केषाम् ? अनात्मदर्शिनां यथावदात्मस्वरूपपरिज्ञानरहितानां बहिरात्मनाम् । आत्मदर्शिनोऽन्तरात्मनः पुनरक्षीणदोषस्य मोहाक्रान्तस्य बहिरात्मनः सम्बन्धिन्यः सर्वावस्थाः सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थावत् । जागत्प्रबुद्धानुन्मत्ताद्यवस्थाऽपि विभ्रमः प्रतिभासते यथावद्वस्तुप्रतिभासाभावात् । अथवा— सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव एवकारोऽपिशब्दार्थे तेन सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थाऽपि न विभ्रमः केषाम् ? आत्मदर्शिनां दृढतराभ्यासात्तदवस्थायामपि आत्मनि तेषामविपर्यासात् स्वरूपसंवित्तिवैकल्यासम्भवाच्च यदि सुप्ताद्यवस्थायामप्यात्मदर्शनं स्यात्तदा जाग्रदवस्थावत्तत्राप्यात्मनः कथं सुप्तादिव्यपदेश इत्यप्ययुक्तम् । यतस्तत्रेन्द्रियाणां स्वविषये निद्रयाप्रतिबन्धात्तद्व्यपदेशो न पुनरात्मदर्शनप्रतिबन्धादिति । तर्हि कस्याऽसौ विभ्रमो भवति ? अक्षीणदोषस्य बहिरात्मनः । कथम्भूतस्य ?

सर्वावस्थात्मदर्शिनः सर्वावस्थां बालकुमारादिलक्षणां सुप्तोन्मत्तादिरूपां चात्मेति पश्यत्येवंशीलस्य । ९३ ॥

अब यह बतलाते हैं कि मिथ्यादृष्टि वहिरात्मा को और सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा को कैसी अवस्था भ्रमरूप प्रतीत होती है—

अन्वय-अर्थ — (अनात्मदर्शिनाम्) आत्मा का अनुभव न करने वाले वहिरात्माओं को (सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव) सोते रहने तथा पागलपन आदि की दशा ही (विभ्रमः) भ्रमरूप प्रतीत होती है । (आत्मदर्शिनः) आत्मा का अनुभव करने वाले सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा को (अक्षीणदोषस्य) मिथ्यात्व दोषवाले वहिरात्मा की (सर्वावस्था) सभी-सोती जागती दशा (विभ्रमः) भ्रमरूप दिखाई पड़ती है ।

भावार्थ — आत्मा का अनुभव जिनको नहीं होता ऐसे संसारी जीव (वहिरात्मा) सोते रहने वाली अवस्था को अथवा उन्माद, पागलपन, वेहोशी की दशा को ही भ्रमरूप समझते हैं । जागते हुए तथा होश हवाश की अवस्था को वे भ्रमरूप नहीं समझते परन्तु आत्मदर्शी अन्तरात्मा तो वहिरात्मा जीवोंकी सोती,जागती आदि सभी अवस्थाओंको भ्रमरूप समझता है। क्योंकि वहिरात्मा जागते हुए भी अपने आत्माके ज्ञानसे वेखवर (अज्ञानी) वना रहता है। आत्माका बोध उसे कभी किसी भी दशा में नहीं होता, जवकि आत्म-अनुभवी अन्तरात्मा को स्वप्न में भी शरीर से भिन्न ही आत्मा प्रतिभासित होता है ॥ ९३ ॥

ननु सर्वावस्थात्मदर्शिनोऽप्यशेषशास्त्रपरिज्ञानान्निद्रारहितस्य मुक्ति-र्भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह —

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ९४

टीका—न मुच्यते न कर्मरहितो भवति। कोऽसौ ? देहात्मदृष्टिर्बहिरात्मा। कथम्भूतोऽपि ? विदिताशेषशास्त्रोऽपि परिज्ञाताशेषशास्त्रोऽपि देहात्मदृष्टिर्यतः देहात्मनोर्भेदरुचिरहितो यतः। पुनरपि कथम्भूतोऽपि? जाग्रदपि निद्रयाऽनभिभूतोऽपि। यस्तु ज्ञातात्मा परिज्ञातात्मस्वरूपः स सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते विशिष्टां कर्मनिर्जरां करोति दृढतराभ्यासात्सुप्ताद्यवस्थायामप्यात्मस्वरूपसंवित्त्यवैकल्यात् ॥ ९४ ॥

अब शास्त्रकार यह बतलाते हैं कि कैसा आत्मा मुक्त होता है और कैसा मुक्त नहीं होता —

अन्वयार्थ — (देहात्मदृष्टिः) शरीर को ही आत्मा समझने वाला बहिरात्मा (विदिताशेषशास्त्रोऽपि) समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होकर भी (जाग्रदपि) जागता हुआ भी (न मुच्यते) कर्म-बन्धनसे या संसार से मुक्त नहीं होता । (ज्ञातात्मा) आत्माका अनुभवी अन्तरात्मा (सुप्तोन्मत्तोपि) सोता हुआ तथा उन्मत्त हुआ भी (मुच्यते) कर्मों का संवर और निर्जरा करता हुआ कर्म बन्धनसे छूटता रहता है ।

भावार्थ— जो जीव अपने आत्मा का अनुभव नहीं कर पाया, अपने शरीरको ही आत्मा मान रहा है, वह यदि समस्त

शस्त्र भी पढ़ डाले तथा जागता भी रहे तो भी अपनी मिथ्या मान्यता के कारण कर्मों का बन्ध हो करता रहता है, कर्म-बन्धन से जरा भी नहीं छूटता। तथा जो आत्मा और शरीर का भेद-विज्ञानी है और अपने आत्मा का अनुभवी है वह यदि सोता भी हो तो भी वह प्रतिसमय बहुत से कर्मों का संवर और निर्जरा करके कर्म-बन्धनसे छूटता रहता है।।९४

कुतस्तदा तद्वैकल्यमित्याह—

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥९५॥

टीका —यत्रैव यस्मिन्नेव विषये आहितधीः दत्तावधाना बुद्धिः। "यत्रात्महितधीरिति च पाठः यत्रात्मनो हितमुपकारस्तत्र धीर्बुद्धिरिति।" कस्य ? पुंसः। श्रद्धा रुचिस्तस्य तत्रैव तस्मिन्नेव विषये जायते। यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते आसक्तं भवति ॥ ९५ ॥

अब, मनुष्यका चित्त कहां लीन होता है, यह बतलाते हैं—

अन्वय-अर्थ – (पुंसः) मनुष्य की (यत्रएव) जिस विषयमें ही (आहितधीः) बुद्धि लगी रहती है (तत्रएव) उस ही विषय में मनुष्य की (श्रद्धा) रुचि (जायते) उत्पन्न हो जाती है और (यत्रएव) जिस ही विषय में (श्रद्धा जायते) रुचि उत्पन्न हो जाया करती है (तत्रएव) उस ही विषय में (चित्तं) मन (लीयते) लीन हो जाता है, रमजाता है।

भावार्थ– मनुष्य की बुद्धि में जो बात दृढ़ता से बैठ

जाती है, उस को उसी विषय का श्रद्धान या रुचि—विश्वास हो जाता है और जहां रुचि पैदा हो जाती है उसी विषयमें सोते, जागते तथा पागलपन या मूर्छित दशामें भी उसका मन रमा रहता है। आत्मद्रष्टा पुरुषकी बुद्धिमें आत्मा समाया हुआ होता है, इसकारण उसको अपने आत्माकी श्रद्धा या रुचि होती है, इसीकारण सब दशाओंमें उसका मन अपने आत्मामें ही लगा रहता है। बहिरात्माकी बुद्धि अपने शरीरकी ओर लगी रहती है, अतः वह शरीरको ही अपने सर्वस्व (आत्मा)की श्रद्धासे देखा करता है, इसी कारण सोते जागते आदि सभी अवस्थाओंमें उसका मन शरीर में ही लीन रहा आता है ॥९५॥

क्व पुनरनासक्तं चित्तं भवतीत्याह—

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्त्तते।
यस्मान्निवर्त्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥९६॥

टीका—यत्र यस्मिन्विषये अनाहितधीरदत्तावधाना बुद्धिः। "यत्रैवाहितधीरिति च पाठः। यत्र च आहितधीरनुपकारबुद्धिः।" कस्य? पुंसः। तस्माद्विषयात्सकाशात् श्रद्धा निवर्तते। यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चितस्य तल्लयः तस्मिन् विषये आसक्तिस्तल्लयः कुतो? नैव कुतश्चिदपि ॥

अब यह बतलाते हैं कि चित्त कहां पर लीन नहीं होता—

अन्वयार्थ-- (पुंसः) मनुष्यकी (यत्र) जहां (अनाहितधीः) बुद्धि नहीं ठहरती—नहीं लगती (तस्मात्) उस विषय से

उसकी (श्रद्धा) रुचि (निवर्तते) निवृत्त हो जाती है–यानी उत्पन्न नहीं होती और (यस्मात्) जिस विषय से (श्रद्धा) मनुष्य की रुचि (निवर्तते) हट जाती है (तस्य) उस मनुष्य के (चित्तस्य) मन की (तल्लयः) तल्लीनता उस विषयमें (कुतः) कहां से हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती।

भावार्थ—मनुष्य की बुद्धि में जो बात ठीक नहीं समाती उस बात में उसको श्रद्धा--रुचि नहीं होती और जिस विषय की उसे श्रद्धा नहीं होती है उस विषयमें उसका मन भी लीन नहीं होता। तदनुसार अन्तरात्मा की बुद्धि में अपना आत्मा समाया रहता है, अतः शरीर में उस की रुचि नहीं होती, इसी कारण से वह आत्मा में लीन रहता है, शरीर में उसकी लीनता नहीं होती इसके विपरीत बहिरात्मा की समझ में शरीर के सिवाय आत्मा और कुछ नहीं है, अतः उसकी श्रद्धा आत्मा में नहीं होती, इसी कारण उस का मन भी आत्मा में लीन नहीं होता ॥ ९६ ॥

यत्र च चित्तं विलीयते तद्ध्येयं भिन्नमभिन्नं च भवति, तत्र भिन्नात्मनि ध्येये फलमुपदर्शयन्नाह —

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।
वर्त्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

टीका — भिन्नात्मानंआराधकात् पृथग्भूतमात्मानमर्हत्सिद्धरूपं उपास्याराध्य आत्मा आराधकः पुरुषः परः परमात्मा भवति तादृशो-

ऽर्हत्सिद्धस्वरूपसदृशः । अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह—वर्तिरित्यादि । दीपाद्भिन्ना वर्तिर्यथा दीपमुपास्य प्राप्य तादृशी भवति दीपरूपा भवति ॥९७॥

अब यह बतलाते हैं कि उपासक अन्तरात्मा अपने से भिन्न उपास्य परमात्मा की उपासना करके स्वयं परमात्मा बन जाता है —

अन्वयार्थ— (भिन्नात्मान) अपने आत्मा से भिन्न अर्हन्त, सिद्ध परमात्मा की (उपास्य) उपासना—आराधना करके (आत्मा) आत्मा (तादृशः) उनके समान (परः) परमात्मा (भवति) बन जाता है। (यथा) जैसे (भिन्नावर्तिः) दीपकसे भिन्न बत्ती (दीपं) दीपक की (उपास्य) उपासना कर के यानी—साथ रहकर (तादृशी) दीपक के समान प्रकाशमान (भवति) बन जाती है।

भावार्थ—यद्यपि अर्हन्त भगवान या सिद्धभगवान संसारी आत्मासे भिन्न हैं परन्तु संसारी आत्मा उनका दर्शन, पूजन, चिन्तवन, आराधना और ध्यान करता है तो वहभीउनके समान ही पूज्य परमात्मा बन जाता है। जैसे कि प्रकाशमय दीपक से बत्ती अलग वस्तु है परन्तु दीपक के साथ रहकर वह भी दीपकके समान प्रकाश रूप हो जाती है॥ ९७॥

इदानीमभिन्नात्मनोपासने फलमाह—

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥९८॥

टीका— अथवा आत्मानमेव चित्स्वरूपमेव चिदानन्दमयमुपास्य आत्मा परमः परमात्मा जायते । अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमानः प्राह— मथित्वेत्यादि । यथाऽऽत्मानमेव मथित्वा घर्षयित्वा तरुरात्मा (?) तरुः स्वत एवाग्निर्जायते ।। ६८ ।।

अब ग्रन्थकार यह बतलाते हैं कि आत्मा स्वयं अपने शुद्ध-स्वरूप की उपासना करके भी परमात्मा बन जाता है—

अन्वयार्थ – (अथवा) अथवा -या (आत्मा) अपना आत्मा (आत्मानं एव) अपने आत्मस्वरूप को ही (उपास्य) आराधना–चिन्तवन करके (परमः) परमात्मा (जायते) हो जाता है । (यथा) जैसे (आत्मानं एव) अपने आप को ही (मथित्वा) रगड़कर (तरुः) बांसका पेड़ (आत्मा एव) स्वयं ही (अग्निः) अग्नि (जायते) हो जाता है ।

भावार्थ — अरहन्त सिद्ध भगवान की उपासना करके संसारी जीव कालान्तर में परमात्मा बन जाते हैं अथवा वे अपने चित्त को अपने शुद्ध आत्म-स्वरूपमें एकाग्र करके उस शुक्ल आत्मध्यान से भी अपना कर्म–कलंक मिटा करके शुद्ध-बुद्ध अजर-अमर परमात्मा बन जाते हैं । जैसे वनमें खड़े हुए बांस हवा के झोकों से आपस में हो रगड़कर आग बन जाते हैं। (बांस को बांस से ही रगड़ा जावे तो उससे अग्नि उत्पन्न हो जाती है ।) ।। ६८ ।।

उक्तमर्थमुपसंहृत्य फलमुपदर्शयन्नाह —

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचां गोचरं पदम् ।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥६६ ॥

टीका—इति एवमुक्तप्रकारेण इदं भिन्नमभिन्नं चात्मस्वरूपं भावयेत् नित्यं सर्वदा। ततः किं भवति ? तत्पदं मोक्षस्थानं । कथम्भूतं ? अवाचां गोचरं वचनैरनिर्देश्यं · कथं तत्प्राप्नोति ? स्वत एव आत्मनैव परमार्थतो न पुनर्गुर्वादिवाह्यनिमित्तात् । यतः प्राप्तात् तत्पदान्नावर्तते संसारे पुनर्न भ्रमति ॥ ९९ ॥

परमात्मापद पाकरके आत्मा फिर संसारमें नहीं आता है, यह बात बतलाते हैं —

अन्वय-अर्थ—(इति) इस प्रकार (नित्यं) सदा (इदम्) यह (अवाचां गोचरम्) वचनों से अगोचर यानी—शब्दों द्वारा न कहा जा सकने योग्य (पदम्) शुद्ध आत्म-स्वरूप को—अर्हन्त परमात्म-पद को (भावयेत्) भावना करे--चिन्तवन करता रहे। (तदा) तब (स्वतः एव) अपने आप ही (तत् आप्नोति) उस परम आत्मपदको प्राप्तकर लेता है (यतः) जिस पद से वह(पुनः) फिर (न आवर्तते) वापिस नहीं लौटता।

भावार्थ – पीछे बतलाये अनुसार यदि सदा अपने शुद्ध स्वरूपका चिन्तवन, मनन, आराधन अर्हन्त भगवानके माध्यम से, उनकी निर्विकार प्रतिमाके आश्रयसे सदा किया जाता रहे तो संसारी कर्मबद्ध आत्मा भी वह अजर, अमर, निरञ्जन,

निर्विकार, अविनाशी परमात्मा पद पा लेता है जिससे कि फिर कभी जन्म मरण के चक्कर में नहीं आना पड़ता। जैसे धान का छिलका दूर हो जाने पर फिर चावल नहीं उगता है ॥ ६६

न चासौ तत्त्वचतुष्टयात्मकाच्छरीरात्तत्त्वान्तरभूतः सिद्ध इति चार्वाकः। सदैवात्मा मुक्तः सर्वदा स्वरूपोपलम्भसम्भवादिति-सांख्या-स्तान् प्रत्याह—

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित्॥

टीका—चित्तत्त्वं चेतनालक्षणं तत्त्वं यदि भूतजं पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणभूतेभ्यो जातं यद्यभ्युपगम्यते तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन तात्पर्येण साध्यं निर्वाणं न भवति। एतच्छरीरपरित्यागेन विशिष्टावस्थाप्राप्तयोगस्यात्मन एव तन्मते अभावादित्यात्मनो मरणरूपविनाशादुत्तरकालमभावः। सांख्यमते तु भूतजं सहजं भवनं भूतं शुद्धात्मतत्त्वं तत्र जातं तत्स्वरूप-संवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन ध्यानानुष्ठादिना साध्यं न भवति निर्वाणं सदा शुद्धात्मस्वरूपानुभवे सर्वदैवात्मनो निरुपायमुक्तिप्रसिद्धेः। अथवा निष्पन्नेतरयोग्यपेक्षया अयत्नेत्यादि वचनम्। तत्र निष्पन्नयोग्यपेक्षया चित्तत्त्वं भूतजं स्वभावजं। भूतशब्दोऽत्र स्वभाववाची। मनोवाक्कायेन्द्रियैरविक्षिप्तमात्मस्वरूपं भूतं तस्मिन् जातं तत्स्वरूपवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं है तथाविधमात्मस्वरूपमनुभवतः कर्मबन्धाभावतो निर्वाणस्याप्रयाससिद्ध-

त्वात् । अथवा अन्यथा प्रारब्धयोग्यपेक्षया भूतजं चित्तत्वं न भवति । तदा योगतः स्वरूपसंवेदनात्मकचित्तवृत्तिनिरोधाभ्यासप्रकर्षान्निर्वाणं । यत एवं तस्मात् क्वचिदप्यवस्थाविशेषे दुर्धरानुष्ठाने छेदनभेदनादौ वा योगिनां दुःखं न भवति । आनन्दात्मकस्वरूपसंवित्तौ तेषां तत्प्रभवदुःख-संवेदनासम्भवात् ॥ १०० ॥

अब ग्रन्थकार चार्वाक और सांख्यमत को लक्ष्य करके कहते हैं —

अन्वयार्थ– (यदि) यदि- अगर (चित्तत्वं) ज्ञान-चैतन्य स्वरूप आत्म-तत्व (भूतजं) नास्तिक चार्वाक मत के अनुसार (भूतजं) जड़रूप पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप भौतिक पदार्थों से ही बना हुआ है तो (निर्वाणं) मोक्ष या नाश (अयत्नसाध्यं) बिना किसी यत्न–परिश्रम से मिल जाता है । (अन्यथा) यदि आत्मा भौतिक शरीर रूप नहीं है तो (योगतः) अपनी मन वचन काय की प्रवृत्ति को रोककर योग–ध्यान द्वारा निर्वाण--मुक्ति मिलती है । (तस्मात्) इस कारण (योगिनः) योगी-तपस्वी को (क्वचित्) कहीं भी (दुःखं न) दुःख नहीं है ।

भावार्थ – चार्वाक मत की मान्यता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूत पदार्थों से मिलकर जो यह शरीर बना है, यह शरीर ही आत्मा है, इसके सिवाय आत्मा कोई अन्य पदार्थ नहीं है । इसलिये शरीर जब नष्ट हो जाता है तब ही शरीरमयी आत्मा मुक्त हो जाती है यानी--समाप्त

हो जाती है। यदि आत्मा को ऐसा माना जावे तब तो मुक्त होने के लिये किसी व्रत नियम, उपासना, ध्यान आदि करने की आवश्यकता ही नहीं। परन्तु ऐसा है नहीं, आत्मा इस शरीर से भिन्न अविनाशी पदार्थ है जो कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता, अन्य शरीर में चला जाता है। ऐसा आत्मा ध्यान-योग द्वारा मुक्त होता है। मुनि शरीरको आत्मासे भिन्न समझ करके ध्यान करते हैं, इस कारण किसी उपसर्ग या परीषह से शरीरको कष्ट होता है तो तपस्वी-मुनि उस शारीरिक कष्ट से स्वयं दुखी नहीं होते हैं क्योंकि वे शरीर को आत्मा से अलग समझते हैं।

सांख्य मत में आत्मा को शुद्ध बुद्ध माना गया है। यदि तदनुसार आत्मा सदा से शुद्ध बुद्ध ही होता तो फिर मुक्त होने के लिये ध्यान आदि करने की आवश्यकता नहीं रहती, बिना किसी योग आदि यत्नके आत्मा मुक्त हो जाना चाहिये। परन्तु सांख्यमतमें मुक्त होनेके लिये ध्यान करनेका विधान भी किया गया है, जो शुद्ध आत्माके लिये व्यर्थ ठहरता है ॥१००॥

नन्वात्मनो मरणरूपविनाशादुत्तरकालमभावसिद्धेः कथं सर्वदा-अस्तित्वं सिद्ध्येदिति वदन्तं प्रत्याह—

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः ॥१०१॥

टीका—स्वप्ने स्वप्नावस्थायां दृष्टे विनिष्टेऽपि शरीरादौ आत्मनो यथा नाशो नास्ति तथा जागरदृष्टेऽपि जाग्रदवस्थायां दृष्टे विनि-ष्टेऽपि शरीरादौ आत्मनो नाशो नास्ति। ननु स्वप्नावस्थायां भ्रांति-वशादात्मनो विनाशः प्रतिभातीति चेत्तदेतदन्यत्रापि समानं। न खलु शरीरविनाशे आत्मनो विनाशमभ्रांतो मन्यते। तस्मादुभयत्राप्यात्मनो विनाशोऽनुपपन्नो विपर्यासाविशेषात्। यथैव हि स्वप्नावस्थायामविद्य-मानेऽप्यात्मनो विनाशे विनाशः प्रतिभासत इति विपर्यासः तथा जाग्रद-वस्थायामपि॥ १०१॥

शंकाकार कहता है कि मरण के बाद आत्मा का विनाश हो जाता है फिर आत्माकी सत्ता सदा कैसे बनी रहती है? उसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

अन्वयार्थ --(यथा) जिस तरह (स्वप्ने) स्वप्न में (दृष्टे) शरीर आदि अनेक पदार्थों के दीखने पर और (विनष्टेअपि) उनके नाश हो जाने पर भी (आत्मनः) आत्मा का (नाशः) विनाश (न अस्ति) नहीं होता है (तथा) उसी तरहसे (जागर-दृष्टे अपि) जाग्रत अवस्थामें शरीर के दीखने तथा नष्ट होने पर भी आत्माका नाश नहीं होता है। (विपर्यासाविशेषतः) सोती हुई दशामें तथा जागती दशामें आत्मा के नष्ट होजाने के विषयमें होने वाला भ्रम एक समान है।

भावार्थ-- आत्मा अखंड अविनाशी पदार्थ है, अतः उसका कभी न तो नाश होता है, न उसके टुकडे होते हैं।

स्वप्न में जैसे शरीर के जीवित होने या मरनेके भ्रम से आत्मा के उत्पन्न होने अथवा नष्ट होने का भ्रम हो जाता है, इसी तरह जागीहुई दशामेंभी किसीके उत्पन्न होने या मरनेको देख-कर आत्मा के उत्पन्न होने या नष्ट होने का भ्रम होता है। आत्मा तो वास्तव में न कभी पैदा होता है, न कभी मरता है, शरीर ही मरता या नया उत्पन्न होता है। आत्माके जन्म तथा मरण होने की समझ एक झूठा भ्रम है ॥१०१॥

नन्वेवं प्रसिद्धस्याप्यनाद्यनिधनस्यात्मनो मुक्त्यर्थं दुर्द्धरानुष्ठान-क्लेशो व्यर्थो ज्ञानभावनामात्रेणैव मुक्तिसिद्धेरित्याशङ्कयाह—

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥१०२॥

टीका — अदुःखेन काय - क्लेशादि कष्टं विना सुकुमारोपक्रमेण भावितमेकाग्रतया चेतसि पुनः पुनः संचिन्तितं ज्ञानं शरीरादिभ्यो भेदे-नात्मस्वरूपपरिज्ञानं क्षीयते अपकृष्यते। कस्मिन्? दुःखसन्निधौ दुःखो-पनिपाते सति। यत एवं तस्मात्कारणात् यथाबलं स्वशक्त्यनतिक्रमेण मुनिर्योगी आत्मानं दुःखैर्भावयेत्। कायक्लेशादिकष्टैः सदाऽऽत्मस्वरूपं भावयेत्। कष्टसहो भवन्सदाऽऽत्मस्वरूपं चिन्तयेदित्यर्थः ॥ १०२ ॥

शंकाकार यह शंका करता है कि अविनाशी आत्मा को मुक्त करनेके लिये कठिन तपश्चरण करना व्यर्थ है। आत्मा के ज्ञान मात्र से ही सिद्धि होजायगी? उस शंकाका निवारणकरते हैं—

अन्वयार्थ-- (अदुःखभावितं) विना काय-क्लेश के भावना

किया गया (ज्ञानं) आत्मस्वरूपका ज्ञान (दुःखसन्निधौ) शारीरिक कष्ट आजाने पर (क्षीयते) छूट जाता है। (तस्मात्) इस कारण (मुनिः) आत्मध्यानी मुनि (यथाबलं) यथा-शक्ति (दुःखैः) परिषह-सहन , तथा उपसर्ग-सहन आदि शारीरिक कष्टोंके साथ (आत्मानं भावयेत्) आत्म-चिन्तन, ध्यान करे।

भावार्थ— शरीर का सुखाभ्यासी पुरुष यदि आत्मध्यान करे तो आत्मध्यान करते समय उसे शर्दी गर्मी, भूख, प्यास आदि का या किसी मनुष्य, पशु, देव द्वारा किये गये अथवा अचेतन पदार्थ कृत उपसर्ग का शारीरिक कष्ट आजावे तो उस कष्ट के सहन करने का अभ्यास न होने के कारण वह आत्मचिन्तन, या आत्मध्यानसे विचलित हो जाता है। इस कारण आत्मध्यानी मुनि को अपनी शक्तिके अनुसार परिषहों तथा उपसर्गों के शारीरिक कष्टों को अविचल रूप से शान्तिके साथ सहन करने का अभ्यास करते रहना चाहिये। जिससे आत्मध्यानके समय आये हुए किसीभी शारीरिक दुखके कारण आत्मध्यान से विचलित न हो सके। परिषह और उपसर्गके कष्ट को शान्ति के साथ सहन करने वाले युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन पांडव, सुकोशल, सुकुमाल आदि मुनियों ने मुक्ति या अन्य अहमिन्द्रादिप पद पाया है ॥१०२॥

ननु यद्यात्मा शरीरात्सर्वथाभिन्नस्तदा कथमात्मनि चलति नियमेन तच्चलेत् तिष्ठति तिष्ठेदिति वदन्तं प्रत्याह —

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात् ।
वायोः शरीरयंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥१०३॥

टीका—आत्मनः सम्बन्धिनः प्रयत्नाद्वायुः शरीरे समुच्चलति कथंम्भूतात् प्रयत्नात् ? इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् रागद्वेषाभ्यां जनितात् । तत्र समुच्चलिताच्च वायोः शरीरयन्त्राणि शरीराण्येव यन्त्राणि शरीरयंत्राणि । किं पुनः शरीराणां यन्त्रैः साधर्म्यं यतस्तानि यन्त्राणीत्युच्यन्ते ? इति चेत् उच्यते — यथा यन्त्राणि काष्ठादिविनिर्मितसिंहव्याघ्रादीनि स्वसाध्यविविधक्रियाणां परप्रेरितानि प्रवर्तन्ते तथा शरीराण्यपीत्युभयोस्तुल्यता । तानि शरीरयन्त्राणि वायोः सकाशाद्वर्तन्ते । केषु ? कर्मसु । कथम्भूतेषु ? स्वेषु स्वसाध्येषु ॥ १०३ ।

यदि आत्मा और शरीर भिन्न २ हैं तो आत्माके चलायमान होनेपर शरीर क्यों चलायमान होता है और आत्मा के स्थिर होने पर शरीर क्यों निश्चल हो जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ-- (आत्मनः) आत्मा के (इच्छाद्वेषप्रवर्तितात्) त्रिविध प्रकार की सांसारिक इच्छाओं- अभिलाषाओं तथा द्वेष भावना से किये गये (प्रयत्नात्) प्रयत्न से (वायुः) शरीर में वायु चलती है । (वायोः) उस वायु से (शरीरयन्त्राणि) शरीरके यन्त्र--यानी शरीरके पुर्जे (स्वेषु) अपने (कर्मसु) कार्योंमें (वर्तन्ते) लग जाते हैं।

भावार्थ–यह शरीर एक मशीनकी तरह है । जिस तरह मोटर, ऐंजिन आदि की मशीन को मनुष्य अपनी इच्छा से

चलाता है तो उस मशीन के सभी यन्त्र (कल पुरजे) अपना अपना काम करने लगते हैं। इसी तरह आत्मामें जब किसी तरहकी रागमयी या द्वेषमयी भावना उत्पन्न होती है तो समस्त शरीरके भीतर भरीहुई वायु (हवा) चलने लगती है। उस वायुके चलतेही शरीरके समस्त यन्त्र अपना २ कार्य करने लगते हैं। आंख, कान, नाक, जीभ, हाथ, पैर आदि शरीरके सभी अंग अपना अपना काम करने लगते हैं। यानी—शरीर-रूपी मशीनका चलाने वाला राग द्वेष भावना वाला संसारी आत्मा है। इस कारण आत्मा के स्थिर शान्त होने पर शरीर अविचल शान्त रहता है और आत्मा के अस्थिर होने पर शरीर चलायमान--अस्थिर हो जाता है ॥ १०३ ॥

तेषां शरीरयन्त्राणामात्मन्यारोपाऽनारोपौ कृत्वाजडविवेकिनौ किं कुर्वत इत्याह —

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः।
त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् १०४

टीका —तानि शरीरयन्त्राणि साक्षाणि इन्द्रियसहितानि आत्मनि समारोप्य गौरोऽहं सुलोचनोऽहमित्याद्यभेदरूपतया आत्मन्यध्यारोप्य जडो वहिरात्मा असुखं सुखं वा यथा भवत्येवमास्ते। विद्वानन्तरात्मा पुनः प्राप्नोति किं ? तत्परमं पदं मोक्षं। किं कृत्वा ? त्यक्त्वा ? कं ? आरोपं शरीरादीनामात्मन्यध्यवसायम् ॥ १०४ ॥

टीका — नहि- नैव लभते परिच्छिनत्ति धातूनामनेकार्थत्वाल्लभे- र्ज्ञानेपि वृत्तिस्तथाचल्लोको वक्ति मयास्य चित्तं लब्धमिति । किं तत् ? कर्तृ —ज्ञानं धर्म्मधर्म्मिणोः कथंचित्तादात्म्यादर्थग्रहणव्यापारपरिणत आत्मा । कं ? स्वभावं, स्वोऽसाधारणो—अन्योऽन्यव्यतिकरे सत्यपि व्यक्त्यंतरेभ्यो विवक्षितार्थस्य व्यावृत्तप्रत्ययहेतुः भावो धर्म्मः स्वभावस्तं । केषां ? पदार्थानां । सुखदुःखशरीरादीनां । किं विशिष्टं ? सत् ज्ञानं, संवृत्तं प्रच्छादितं वस्तुयाथात्म्यप्रकाशने अभिभूतसामर्थ्यं । केन ? मोहेन—मोहनीयकर्म्मणो विपाकेन ।

तथा चोक्तम् [लघीयस्त्रये]—

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथा नैकप्रकारतः ।
कर्म्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथा नैकप्रकारतः ॥

नन्वमूर्तस्यात्मनः कथं मूर्तेन कर्म्मणाभिभवो युक्तः ? इत्यत्राह— मत्त इत्यादि यथा नैव लभते कोऽसौ ? पुमान् व्यवहारी पुरुषः । कं ? पदार्थानां घटपटादीनां स्वभावं । किं विशिष्टः सन् ? मत्तः जनितमदः । कैः ? मदनकोद्रवैः । पुनराचार्य एव प्राह – विराधक इत्यादि यावत् 'स्वभावमनासादयन् विसदृशान्यवगच्छतीति' — शरीरादीनां स्वरूपमलभमानः पुरुषः शरीरादीनि अन्यथाभूतानि प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।

ग्रन्थकार अब यह बतलाते हैं कि ज्ञान आत्म-स्वभाव को क्यों नहीं अनुभव करता —

अन्वयार्थ–(हि) नियम से (मोहेन) मोहसे (संवृतं ज्ञानं) आच्छादित–ढका हुआ ज्ञान (स्वभावं) आत्मा के स्वभाव को (न) नहीं (लभते) जान पाता है(यथा)जिस तरह कि (मदनकोद्रवैः) नशीले कोदोंके खा लेनेसे (मत्तः-

पुमान्) पागल बना हुआ मनुष्य (पदार्थानां) पदार्थों को ठीक तरह नहीं जान पाता।

भावार्थ—जिस तरह शराब, भांग, कोदों को पीकर या खाकर मनुष्य नशेमें चूर होकर पागल हो जाता है, उस नशे में वह अपनी स्त्री को बहिन या पुत्री समझ बैठता है और बहिन पुत्री आदि को अपनी स्त्री समझ करके उनके साथ व्यभिचार बलात्कार करनेको तयार हो जाता है, उसे अपने आपका तथा शरीरका भी ठीक विचार नहीं रहता, इसी तरह मोहनीय कर्मके उदय से संसारी जीव का ज्ञान ऐसा मोहित बन गया है कि वह शरीर कोही आत्मा समझ बैठा है। कुट-म्ब परिवार को अपना मान बैठा है, अपने आत्मा का उसे कुछ ज्ञान रहा ही नहीं है

अमुमेवार्थं स्फुटयति—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥ ८ ॥

टीका — प्रपद्यते। कोऽसौ ? मूढः स्वपरविवेकज्ञानहीनः पुमान्। कानि, वपुर्गृहादीनि वस्तूनि। किं विशिष्टानि ? स्वानि स्वश्चात्मा स्वानि चात्मीयानि स्वानि। एकशेषप्रश्रयणादेकस्य स्वशब्दस्य लोपः। अयमर्थो दृढतममोहाविष्टो देहादिकमात्मानं प्रपद्यते —आत्मत्वेनाभ्यु-पगच्छति। दृढतरमोहाविष्टश्च आत्मीयत्वेन। किं विशिष्टानि संति स्वानि प्रपद्यत इत्याह। सर्वथान्यस्वभावानि—सर्वेण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावलक्षणेन प्रकारेण स्वस्वभावादन्यो भिन्नः स्वभावो येषां तानि।

किं किमित्याह—वपुः शरीरं तावदचेतनत्वादिस्वभावं प्रसिद्धमस्ति। एवं गृहं धनं दारा भार्याः पुत्रा आत्मजाः मित्राणि सुहृदः शत्रवोऽमित्राः। 'अत्र हितवर्गमुद्दिश्य दृष्टान्तः।' अत्रैतेषु वपुरादिषु मध्ये हितानामुपकारकाणां दारादीनां वर्गो गणस्तमुद्दिश्य विषयीकृत्य दृष्टान्तं उदाहरणं प्रदर्श्यते। अस्माभिरिति शेषः।

मोहके कारण संसारीजीव अन्य पदार्थों को अपना समझता है—

अन्वयार्थ- (वपुः) यह शरीर (धनं) धन (गृहं) घर (दाराः) स्त्रियां (पुत्राः)पुत्र (मित्राणि) मित्र (शत्रवः) शत्रु वैरी (सर्वथा) सब तरह से (अन्यस्वभावानि) अपने आत्मा से अन्य स्वभाववाले हैं परन्तु (मूढः) मोही मूर्ख आत्मा इनको (स्वानि) अपने (प्रपद्यते) समझताहै।

भावार्थ–धन और घर तो अचेतन जड़ पदार्थ हैं आत्मा से साफ अलग दिखाई देते हैं। शरीर भी वास्तव जड़ में है क्योंकि निर्जीव शरीर अग्नि में जब जला दिया जाता है तो उसे कुछ दुख नहीं मालूम होता। स्त्री पुत्र, मित्र, शत्रु आदि भी अपने आत्मा से अन्य स्वभाव के स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं फिर भी मोह ममता से संसारी जीव इन्हें अपना मानता है, इनके संयोगसे अपने आपको सुखी अनुभव करता है और उनके वियोगसे अपने आपको दुखी मानता है, किसी को अपना वैरी समझ कर उससे द्वेष करता है तथा उससे भयभीत होता है। इस तरह राग द्वेष भय शोक आदि अनेक प्रकार के विकार सब संसारी आत्मा में मोह के कारण ही हुआ करते हैं।

तद्यथा:—

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसन्ति नगे नगे ।
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥ ६ ॥

टीका— संवसंति मिलित्वा रात्रिं यावन्निवासं कुर्वन्ति । के ते ? खगाः पक्षिणः क्व क्व नगे नगे वृक्षे वृक्षे किं कृत्वा ? एत्य आगत्य । केभ्यो ? दिग्देशेभ्यः दिशः पूर्वादयो दिशः देशस्तस्यैकदेशो अंगवंगादय-स्तेभ्योऽवधिकृतेभ्यः तथा यांति गच्छन्ति । के ते खगाः । कासु ? दिक्षु दिग्देशेष्विति प्राप्तेर्विपर्ययनिर्देशो गमननियमनिवृत्त्यर्थस्तेन योऽन्यस्याः दिशः आयातः स तस्यामेव दिशि गच्छति यश्च यस्माद्देशादायातः स तस्मिन्नेव देशे गच्छतीति नास्ति नियमः । किं तर्हि यत्र क्वापि यथेच्छं गच्छंतीत्यर्थः । कस्मात् स्वस्वकार्यवशात् निजनिजकरणीयपारतन्त्र्यात् । कदा कदा ? प्रगे प्रगे प्रातः प्रातः । एवं संसारिणो जीवा अपि नरकादिगतिस्थानेभ्य आगत्य कुले स्वायुः कालं यावत् संभूय तिष्ठन्ति तथा निजनिजपारतन्त्र्यात् देवगत्यादिस्थानेष्वनियमेन स्वायुः कालान्ते गच्छन्तीति प्रतीहि । कथं भद्र ! तव दारादिषु हितबुद्ध्या गृहीतेषु सर्वथान्यस्वभावेषु आत्मीयभावः ? यदि खलु एतेत्वदात्मका स्युः तदा त्वयि तदवस्थयेव कथमवस्थान्तरं गच्छेयुःयदि च एते तावकाः स्युस्तर्हि कथं ? तवप्रयोगमंतरेणैव यत्र क्वापि प्रयांतीति मोहग्रहावेशमपसार्य यथावत्पश्येति दार्ष्टान्ते दर्शनीयं ।

दृष्टान्तके साथ आचार्य यह बतलाते हैं कि संसारी जीव का कुटम्ब परिवार किसतरह बनता है—

अन्वयार्थ–(नगे नगे) वृक्ष वृक्षपर (दिग्देशेभ्यः) भिन्न भिन्न दिशाओं और देशों से (एत्य) आकर (खगाः) पक्षी रात के समय (संवसन्ति) ठहर जाते हैं (प्रगे प्रगे)

सूर्य-उदय होनेपर प्रातः काल (स्वकार्यवशात्) अपने अपने पेट भरने आदि के कार्य के लिये (देशे) किसीदेशमें दिक्षु) भिन्न भिन्न दिशाओं में (यान्ति) उड़कर चले जाते हैं।

भावार्थ—तोता, कबूतर, कौआ आदि अनेक तरह के पक्षी दिन भर अपना पेट भरने के लिये भिन्न भिन्न देशों और दिशाओं में घूमते रहते हैं फिर रात को आ करके पेड़ों पर आकर इकट्ठे हो जाते हैं, प्रातःकाल होतेही फिर उड़कर कहीं के कहीं चले जाते हैं। इसी तरहसे नरक, मनुष्य, पशु, देव गतियोंकी भिन्न भिन्न योनियोंसे आये हुए जीव पुत्र, स्त्री, बहिन, माता, पिता आदि परिवारके रूपमें कुछ दिनों के लिये एकत्र हो जाते हैं। फिर अपनी आयु समाप्त होते ही भिन्न भिन्न गतियों को चले जाते हैं। यानी-कुटम्ब परिवार मित्र शत्रु आदि का मिलाप, संयोग, वियोग पेड़ पर आकर रात भर बसे हुए पक्षियों की तरह हुआ करता है।

'अहितवर्गेऽपि दृष्टान्तः प्रदर्श्यते' अस्माभिरिति योऽयम् :—

विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति।
त्र्यंगुलं पातयत्पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यते ॥१०॥

टीका —कथमित्यरुचौ न श्रद्धे कथं परिकुप्यत समंतात् क्रुध्यति। कोऽसौ ? विराधकः अपकारकर्त्ता जनः। कस्मै ? हंत्रे जनाय प्रत्यपकारकाय लोकाय।

'सुखं वा यदि वा दुःखं येन यच्च कृतं भुवि।
अवाप्नोति स तत्तस्मादेष मार्गः सुनिश्चितः ॥'

इत्यभिधानादन्याय्यमेतदिति भावः। अत्र दृष्टान्तमाचष्टे-त्र्यंगुल-मित्यादिः—पात्यते भूमौ क्षिप्यते। कोऽसौ ? यः कश्चिदसमीक्ष्यकारी जनः केन, दंडेन हस्तधार्यकाष्ठेन कथं ? स्वयं—पात्यप्रेरणमंतरेणैव। किं कुर्वन् ? पातयन् भूमिं प्रति नामयन्। किं तत् ? त्र्यंगुलं अंगुलित्रयाकारं कच्चराद्याकर्षणावयवं। काभ्यां ? पादाभ्यां, ततोऽहिते प्रीतिरहिते चाऽप्रीतिः स्वहितैषिणा प्रेक्षावता न करणीया।

अपने अपकार करने वाले पर भी क्रोध करना हानिकारक है, इस बात को दृष्टान्तसहित बतलाते हैं—

अन्वयार्थ-- (विराधकः) अपकार करने वाला मनुष्य (हन्त्रे जनाय) मारने वाले मनुष्यके लिये (कथं) क्यों (परिकुप्यति) क्रोध करता है। (त्र्यंगुलं) तीन आंगुले-फावड़ा आदि को भूमि पर (पातयन्) खोदने के लिये गिराता हुआ मनुष्य (पद्भ्यां) पैरोंके द्वारा (स्वयं) स्वयं (दंडेन) लकड़ी के बेंठ द्वारा (पात्यते) गिराया-झुकाया जाता है।

भावार्थ—जैसे तीन आंगुले (घास आदि उठाने के लिये तीन अंगुलियाँ के समान बने हुए लकड़ीके या लोहे के (औजार)से या फावड़ेसे जमीन पर कूड़ा कचरा उठाते धरते या पृथ्वी को खोदते समय मनुष्य को खुद झुकना पड़ता है। इसी तरह अपना घात या हानि करने वाले मनुष्य को स्वयं अपने बुरे कर्म का दण्ड (सजा) मिला करता है जो दूसरों की हानि करता है उसकी हानि कर्म के उदय से अवश्य होती है—जो जैसा करता है वैसा सुखदुख भरता है। फिर

बुद्धिमान मनुष्य! तू अपने अपकार (बुरा)करने वाले पर क्यों व्यर्थ क्रोध करता है, तेरा अपकार करने वाले उस मनुष्यको उस अपकार का दण्ड स्वयं अवश्य मिलेगा ।

अत्र विनेयः पृच्छति । हिताहितयो रागद्वेषौ कुर्वन् किं कुरुते ? इति दारादिषु रागं शत्रुषु च द्वेषं कुर्वाणः पुरुषः किमात्मने, हितं कार्यं करोति येन तावत् कार्यतयापदृश्यते इत्यर्थः । अत्राचार्यः समाधत्ते;—

रागद्वेषद्वयी-दीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा ।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥११॥

टीका — भ्रमति संसरति । कोऽसौ ? असौ जीवश्चेतनः । क्व ? संसाराब्धौ —संसारः द्रव्यादिपरिवर्तनरूपो भवोऽब्धिः समुद्र इव दुःखहेतुत्वाद्दुस्तरत्वाच्च तस्मिन् । कस्मात् ? अज्ञानात् देहादिष्वात्मविभ्रमात् । कियत्कालं सुचिरं अतिदीर्घकालं । केन ? रागेत्यादि—रागः इष्टे वस्तुनि प्रीतिः द्वेषश्चानिष्टेऽप्रीतिस्तयोर्द्वयी—रागद्वेषयोः शक्तिव्यक्तिरूपतया युगपत् प्रवृत्ति-ज्ञापनार्थं द्वयी ग्रहणं, शेषदोषाणां च तद्द्वयप्रतिबद्धत्वबोधनार्थं । तथा चोक्तम् (ज्ञानार्णवे)—

'यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः ।
उभावेतौ समालंब्य विक्रमत्यधिकं मनः २३-२५ ॥'

अपि च—आत्मनि सति परसंज्ञा, स्व-परविभागात् परिग्रहद्वेषौ ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाश्च जायंते ॥

सा दीर्घनेत्रमायतमंथाकर्षणपाश इव भ्रमणहेतुत्वात्तस्याकर्षणकर्मजीवस्य रागादिरूपतया परिणमनं नेत्रस्याकर्षणत्वाभिमुखानयनं तेन अत्रोपमानभूतो मंथदण्ड आक्षेप्यस्तेन यथा- नेत्राकर्षणव्यापारे मंथाचलः समुद्रे सुचिरं भ्रांतो लोके प्रसिद्धस्तथा स्वपरविवेकानवबोधात् यदुद्भूतेन रागादिपरिणामेन कारणकार्योपचारात्तज्जनितकर्मबन्धेन

संसारस्थो जीवो अनादिकालं संसारे भ्रांतो भ्रमिष्यति । भ्रमतीत्यवतिष्ठंते पर्वता इत्यादिवत् नित्यप्रवृत्ते लटो विधानात् । उक्तं च—(पंचत्थिपाहुडे) —

'जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो हवदि गदिसु-गदी ॥ १२८ ॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंति ।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥ १२९ ॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालंमि ।
इदि जिणवरेहिं भणियं अणाइणिहणो स णिहणो वा ॥'

यह जीव संसारमें किस तरह घूमता है, यह बात आचार्य दृष्टान्त-सहित बतलाते हैं —

अन्वयार्थ--(जीवः) संसारी आत्मा (संसाराब्धौ) इस संसार समुद्र में (अज्ञानात्) मिथ्याश्रद्धान पूर्वक अज्ञान से (सुचिरं) अनादिकाल से (रागद्वेषद्वयोदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा) राग और द्वेष रूप रूपी मथानी की रस्सी को खींचनेकी तरह (भ्रमति)घूमता है ।

भावार्थ—जैसे जमे हुए दही के मटके में रई (मथानी) को डालकर रस्सी से उस मथानी को बांधा जाता है, फिर उस रस्सी को कभी दांये हाथ से खींचकर और फिर कभी बांयें हाथ से खींचकर दही में उस मथानी को घुमाया जाता है । इसी तरह राग द्वेष रूपी दो रस्सियोंसे बंधा हुआ संसारी जीव भी मथानी की तरह संसार में घुमाया जाता है । यानी यह जीव राग और द्वेष करके अपने लिये कर्म-बन्धन तयार

करता है और उस कर्म-बन्धन के उदय होने पर यह जीव संसार की चारों गतियों में घूमता रहता है।

क्रोध, मान, अरति, शोक, भय जुगुप्सा ये ६ प्रकारके भाव द्वेष रूप माने गये हैं और माया, लोभ, हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद इन सात प्रकार के भावों को राग रूप माना गया है। यानी—राग और द्वेषमें समस्त विकार भावों का समावेश किया जाता है, इनसे ही कर्मबन्ध होकर संसार में भ्रमण होता है।

अथ प्रतिपाद्यः पर्यनुयुंक्ते 'तस्मिन्नपि यदि सुखी स्यात् को दोष ?' इति भगवन्! संसारेपि न केवलं मोक्ष इत्यपि शब्दार्थः। चेज्जीवः सुखयुक्तो भवेत् तर्हि को न कश्चिन् दोषो दुष्टत्वं संसारस्य सर्वेषां सुखस्यैव आप्तुमिष्टत्वात् येन संसारोच्छेदाय सन्तो यतेरन्नि-त्यत्राह वत्स !

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते ।
यावत्तावद्भवंत्यन्याः प्रचुराः विपदः पुरः ॥१२॥

टीका—यावदतिवाह्यते अतिक्रम्यते प्रेयते। कासौ ? विपत् सहज-शारीरमानसागंतुकानामापदां मध्ये या काप्येका विवक्षिता आपत्। जीवेनेति शेषः। क्व ? भवपदावर्ते भवः संसारः पदावर्तइव—पादचाल्यघटीयन्त्रमिव—भूयो भूयो परिवर्तमानत्वात्। केव, पदिकेव-पादाक्रान्तदण्डिका यथा तावद्भवति। का ? अन्या अपूर्वा प्रचुरा —बह्वो विपदः आपदः पुरो अग्र जीवस्य पदिका इव, काछिकस्येति सामर्थ्याद्‌दुर्व्या। अतो जानीहि दुःखैकनिबंधनविपत्तिनिरंतरत्वात् संसारस्यावश्यविनाश्यत्वम्।

संसारी जीवके सामने प्रतिसमय कोई न कोई दुख खड़ा ही रहता है

अन्वयार्थ– (भवपदावर्ते) संसार-रूपी पैर से चलने वाले घटीयन्त्र (कुए से पानी निकालने की अरहट) में (पदका इव) घटीयन्त्र यानी – अरहटके डण्डे के समान (यावत्) जबतक (विपद्) एक विपत्ति (अतिवाह्यते) समाप्त की जाती है (तावत्) तब तक (अन्याः) दूसरी (प्रचुराः) बहुत सी (विपत्तयः) विपत्तियां (पुरः) सामने (भवन्ति) आ खड़ी हो जाती हैं।

भावार्थ–अरहट द्वारा कुए से पानी निकालते समय जिस तरह पानी से भरा हुआ एक वर्तन खाली होता है कि उसी समय दूसरा पानी से भरा हुआ वर्तन सामने आजाता है। इस तरह जब तक अरहट की माला कुंए में चलती रहती है, तब तक कुंए से जलके भरे हुए वर्तन सामने आते ही रहते हैं, एक खाली होता है तो उसकी जगह दूसरा पानी का वर्तन आ जाता है। ठीक इसी तरह संसारी जीव की जब तक एक विपत्ति (दुखः) समाप्त होती है तब तक दूसरी नई विपदा उसके सामने आ खड़ी होती है। भूख, प्यास, रोग, शोक, चिन्ता आदि के दुख जीवन भर बने ही रहते हैं, क्षण भर भी कभी व्याकुलता (बेचैनी) समाप्त नहीं होती, कोई न कोई विपति बनी ही रहती है।

पुनः शिष्य एवाह—'न सर्वे विपद्वन्तः स-संपदोपि दृश्यन्ते इति' भगवन् ! समस्ता अपि संसारिणो न विपत्तियुक्ताः सन्ति सश्रीकाणामपि केषांचित् दृश्यमानत्वादित्यत्राह, '—

दुरर्ज्येनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थं मन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥

टीका—भवति। कोऽसौ, जनो लोकः। किं विशिष्टः, कोपि-निर्विवेको, न सर्वः किं विशिष्टो भवति, स्वस्थं मन्यः स्वस्थमात्मानं मन्यमानो अहं सुखीति मन्यत इत्यर्थः। केन कृत्वा, धनादिना द्रव्यकामिन्यादीष्टवस्तुजातेन। किं विशिष्टेन. दुरर्ज्येण—अपायवहुलत्वाद् दुर्ध्यानावेशाच्च दुःखेन महता कष्टेनार्जित इति दुरर्ज्येण-तथा असुरक्षेण दुस्त्राणेन यत्नतो रक्षमाणस्याप्यपायस्यावश्यं भावित्वात्। तथा नश्वरेण रक्षमाणस्यापि विनाशसंभवादशाश्वतेन। अत्र दृष्टांतमाह—ज्वरेत्यादि इव शब्दो यथार्थे यथा कोऽपि मुग्धो ज्वरवान् अतिशयेन मतेर्विनाशाद् सामज्वरार्तः सर्पिषा घृतेन पानाद्युपयुक्तेन स्वस्थं-मन्यो भवति। निरामयमात्मानं मन्यते ततो वुद्धयस्व दुरुपार्ज्यदुरक्षणभंगुरद्रव्यादिना दुःखमेव स्यात्। उक्तं च—

"अर्थस्योपार्ज्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्॥"

आचार्य कहते हैं कि धन आदि के द्वारा मनुष्य को सुख शान्ति प्राप्त नहीं होती—

अन्वयार्थ-- (दुरर्ज्येन) बड़े कष्टों से तथा कठिनाइयों से कमाये जाने वाले, (असुरक्षेण) चोर डाकू अग्नि आदि से सुरक्षित न रहने वाले, (नश्वरेण) विनश्वर (धनादिना) धन, पुत्र आदि के द्वारा (स्वस्थं) अपने आपको स्वस्थ-सुखी (मन्यः) माननेवाला (कः अपि जनः) कोई भी मनुष्य (सर्पिषा) घी खाकर (ज्वरवान् इव) ज्वर से पीड़ित

मनुष्य के समान मूर्ख होता है।

भावार्थ--पहले तो धन बड़ी कठिनाई, परिश्रम और कष्ट से कमाया जाता है, वह थोड़ा थोड़ा करके एकत्र किया जाता है। यदि किसी तरह कुछ धन एकत्र (इकट्ठा) भी हो जावे तो उसे चोर, डाकू, राजा, भाई, पुत्र, स्त्री, मित्र, अग्नि आदि से सुरक्षित (बचाये) रखना बहुत कठिन है। किसी तरह धन सुरक्षित भी रहे तो वह सदा बना नहीं रहता, परिवार के पालन पोषण में, सन्तान के पढ़ाने लिखाने, विवाह करने में, रोग की चिकित्सा (इलाज) करने में, खाने पीने पहनने ओढने में वह धन नष्ट होता ही है। ऐसे धनके द्वारा कोई मनुष्य अपने आपको सुखी माने तो वह ऐसाही मूर्ख होता है जैसे कि ज्वर से पीड़ित (बुखारवाला) मनुष्य घी पीकरके अपने को सुखी बलवान बनाना समझे यानी--ज्वरके समय घी पीलेनेसे जैसे ज्वर और वढता है, इसी तरह ज्यों ज्यों मनुष्य के पास धन बढ़ता है, त्यों त्यों उसे चिन्ता, भय, व्याकुलता भी बढ़ती जाती है, शान्ति सुख सन्तोष तो धन छोडने से मिलता है।

'भूयोऽपि विनेयः पृच्छति।" एवं विधां संपदां कथं न त्यजतीति।' अनेन दुरर्जत्वादिप्रकारेण लोकद्वयेऽपि दुःखदां धनादिसंपत्तिं कथं न मुञ्चति जनः। कथमिति विस्मयगर्भे प्रश्ने। अत्र गुरुरुत्तरमाह,—

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते।
दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत्॥ १४॥

टीका—नेक्षते न पश्यति । कोऽसौ ? मूढो धनाद्यासक्त्या लुप्तविवेको लोकः । कां ? विपत्तिं चौरादिना क्रियमाणां धनापहाराद्यापदां कस्य ? आत्मनः स्वस्य । केषामिव परेषामिव । यथा इमे विपदा आक्रम्यन्ते तथाहमप्याक्रंतव्य इति न विवेचयतीत्यर्थः । क इव ? प्रदह्यमानैः दावानलज्वालादिभिर्भस्मीक्रियमाणैर्मृगैर्हरिणादिभिराकीर्णस्य संकुलस्य वनस्यांतरे मध्ये वर्तमानं । स तरुं वृक्षमारूढो जनो यथा आत्मनो मृगाणामिव विपत्तिं न पश्यति ।

अब कहते हैं कि संसारी जीव दूसरोंके दुखोंको तो देखता है. किन्तु अपने ऊपर आने वाले दुखों को नहीं देखता—

अन्वयार्थ–(दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत्) सिंह बाघ आदि जीवोंसे भरे तथा फैलीहुई अग्निसे जलतेहुए वनमें किसी वृक्ष पर बैठे हुए मूर्ख मनुष्य के समान, (मूढः) मोही संसारी मूर्ख जीव (परेषां) दूसरे जीवों की (विपत्तिं इव) रोग, शोक, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, धनक्षय आदि से उत्पन्न होने वाली विपत्ति के समान (आत्मनः) अपनी विपत्ति को (न ईक्षते) नहीं देखता है ।

भावार्थ–जैसे सिंह, वाघ, सर्प आदि हिंसक जीव जन्तुओं से भरे हुए तथा चारों ओर से लगी हुई अग्नि द्वारा जलने वाले वनमें किसी वृक्षपर बैठा हुआ कोई मनुष्य उस आगसे बचने के लिये इधर उधर भागते हुए जानवरों को तो देख रहा हो परन्तु अपनी ओर आती हुई अग्नि से और हिंसक पशुओं से आने वाली अपनी विपत्तिकी ओर न देखे। ऐसे

मूर्ख मनुष्य की तरह ही संसारी मोही मूर्ख जीव है, जो कि रोग, शोक, भय, पुत्र मित्र आदि के मरण, शत्रु, चोर, डाकू आदि के संयोग आदि से होने वाले दुखों से दूसरे जीवों को तो दुखी देखता है परन्तु "वैसे ही दुख मेरे ऊपर भी आने वाले हैं, या आ सकते हैं" उस ओर नहीं देखता, अपने आपको सुखी समझता रहता है।

पुनराह शिष्यः कुत एतदिति, भगवन् ! कस्माद्धेतोरिदं सन्निहिताया अपि विपदो अदर्शनं जनस्य । गुरुराह लोभादिति, वत्स ! धनादिगार्ध्यात् पुरोवर्तिनीमप्यापदं धनिनो न पश्यंति । यतः—

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमम् ।
वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम् ॥१५

टीका—वर्तते । किं तद्धनं । किं विशिष्टं ? इष्टमभिमतं । कथं सुतरां अतिशयेन कस्माज्जीवितात्प्राणेभ्यः । केषां ? धनिनां किं कुर्वतां ? वांछतां । कं, निर्गमं अतिशयेन गमनं । कस्य, कालस्य । किं विशिष्टं ? आयुरित्यादि । आयुः क्षयस्य वृद्धिउत्कर्षस्य च कालांतरवर्द्धनस्य कारणं, अयमर्थो धनिनां तथा जीवितव्यं नेष्टं यथा धनं । कथमन्यथा जीवितक्षयकारणमपि धनवृद्धिहेतुं कालनिर्गमं वांछन्ति । अतो 'धिग्धनम्' एवंविधव्यामोहहेतुत्वात् ।

ग्रन्थकार कहते हैं कि धनका लोभी मनुष्य अपने जीवनसे भी अधिक प्रिय धन को समझता है —

अन्वयार्थ—(कालनिर्गमम्) अपने समय के व्यतीत होनेको (आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं) आयुके क्षय और धनकी

बढवारी का कारण (वांछतां धनिनां) माननेवाले धनवान पुरुषों को (सुतरां) अच्छी तरह (जीवितात्) अपने जीवन से भी (धनं) धनका मिलना (इष्टम्) इष्ट है। अधिक प्यारा है।

भावार्थ—मनुष्य के जीवन का एक एक क्षण अमूल्य है। अपने जीवनमें मनुष्य मुनि-दीक्षा लेकर यदि तपश्चरण करे तो शुक्लध्यान द्वारा अन्तमुहूर्त में केवलज्ञान पाकर अजर अमर अनन्त ज्ञानी और अनन्तसुखी बन सकता है। ज्ञानवृद्धि के, चारित्रवृद्धिके, स्व-पर उपकार के अनेक महत्वपूर्ण कार्य कर सकता है, अच्छा यश प्राप्त कर सकता है, इस कारण बुद्धिमान आत्मदर्शी धर्मात्मा व्यक्ति अपनी आयु के एक एक क्षणका भी सदुपयोग करते हैं। परन्तु अपने आत्माका महत्व न समझने वाले धन सम्पत्ति को ही अपना सर्वस्व समझने वाले मूर्ख मनुष्य अपनी आयुके क्षय होते भी धनकी बढवारी को अपनी उन्नति समझते हैं, आत्माकी निधि--रत्नत्रयकी साधना तथा बढवारी की ओर उनका लक्ष्य नहीं करता।

अत्राह शिष्यः। 'कथं धनं निंद्यं' ? येन पुण्यमुपार्ज्यते इति पात्रदान-देवार्चनादिक्रियायाः पुण्यहेतोर्धनं विना असंभवात् पुण्यसाधनं धनं कथं निंद्यं ? किं तर्हि प्रशस्यमेवातो यथा कथंचिद्धनमुपार्ज्य पात्रादौ च नियुज्य सुखाय पुण्यमुपार्ज्जनीयमित्यत्राह—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः ।
स्वशरीरं सपंकेन स्नास्यामीति विलम्पति॥१६॥

टीका-योऽवित्तो निर्धनः सन् संचिनोति सेवाकृष्यादिकर्मणोपार्जयति किं ? तद्वित्तं धनं । कस्मै ? त्यागाय पात्रदानदेवपूजाद्यर्थं त्यागायेत्यस्य देवपूजाद्युपलक्षणार्थत्वात् । कस्मै त्यागः ? श्रेयसे अपूर्वपुण्याय पूर्वोपात्तपापक्षयाय । यस्य तु चक्रवर्त्यादेरिवायत्नेन धनं सिद्ध्यति स तेन श्रेयोऽर्थपात्रदानादिकमपि करोत्विति भावः । स किं करोतीत्याह विलंपति विलेपनं करोति । कोऽसौ ? सः किं तत् ? स्वशरीरं । केन ? पंकेन कर्दमेन । कथं कृत्वेत्याह स्नास्यामीति । अयमर्थो, यथा कश्चिन्निर्मलसंगं स्नानं करिष्यामीति पंकेन विलम्पन्नसमीक्ष्यकारी तथा पापेन धनमुपार्ज्य पात्रदानादिपुण्येन क्षपयिष्यामीति धनार्जने प्रवर्तमानोऽपि । न च शुद्धवृत्त्या कस्यापि धनार्जनं सम्भवति ।

तथा चोक्तम (आत्मानुशासने)—

"शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः ।
नहि स्वच्छांबुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥"

अब कहते हैं कि मनुष्य दान करने के उद्देश से या सुख पाने के विचार से धन संचय करता है, वह भी ठीक नहीं है—

अन्वयार्थ—(आत्मतत्त्वको न समझने वाला) (यः-अवित्तः)जो निर्धन मनुष्य(त्यागाय) दान करनेके लिये तथा (श्रेयसे) अपने सुख कल्याणके लिये(वित्तम्) धन-सोने चांदी को(संचिनोति) एकत्र करता है । वह मनुष्य (स्नास्यामि-इति)मैं स्नान करूंगा, ऐसे विचारसे (स्वशरीरं) अपने शरीर को (पंकेन) कीचड़ से (विलम्पति) लीपता है ।

भावार्थ—बहिरात्मा मनुष्य धर्म-साधनमें रुचि न रखकर

केवल धन-संचय करने में लगा रहता है। वह सोचता है कि मैं बहुत सा धन इकट्ठा करके फिर खूब दान करूंगा, अच्छा मकान बनवाऊंगा, सुख पाने के लिये विषयभोगों की सामग्री जुटाऊंगा। परन्तु आत्मा को सुखी शान्त, सन्तुष्ट करने के लिये, निज आत्माका रस-आस्वाद करनेकी ओर तथा आत्मा की निधि—ज्ञान चारित्रको बढ़ानेकी ओर उसका ध्यान नहीं जाता। वह ऐसी ही मूर्खता करता है, जैसे कोई मनुष्य शरीर को स्वच्छ करने के लिये स्नान करनेकी इच्छा रखकरके स्नान करने से पहले अपने शरीर पर कीचड़ का लेप कर लेवे। क्योंकि धनके संचय करनेमें अनेक पाप तथा कष्ट होते हैं, फिर उसको सुरक्षित करने में चिन्ता आदि दुख उठाने पड़ते हैं। तथा धन सम्पत्ति हो जाने पर लोभ बढ़ता जाता है, इस कारण दान करने की भी भावना नहीं रहती।

पुनराह शिष्यः 'भोगोपभोगायेति।' भगवन्! यद्येवं सुखहेतोर्भोगोपभोगस्यासंभवात्तदर्थं स्यादिति प्रशस्यं भविष्यति। भोगो भोजनताम्बूलादिः। उपभोगो वस्तु कामिन्यादिः। भोगाश्चोपभोगाश्च भोगोपभोगं तस्मै। अत्राह गुरुः। तदपि नेति न केवलं पुण्यहेतुतया धनं प्रशस्यमिति यत्त्वयोक्तं तदुक्तरीत्या न स्यात्। किं तर्हि? भोगोपभोगार्थं तत्साधनं प्रशस्यमिति। यत्त्वया संप्रत्युच्यते तदपि न स्यात्। कुत इति चेत्, यतः।

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कःसेवते सुधीः॥

टीका —को, न कश्चित सुधीर्विद्वान् सेवते इन्द्रियप्रणालिकयानुभवति। कान् भोगोपभोगान्।

उक्तंच—

"तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते।
हितमेवानुरुध्यंते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ।"

कथंभूतान्, तापकान् देहेन्द्रियमनःक्लेशहेतून्। क्व? आरंभे उत्पत्त्युपक्रमे। अन्नादिभोग्यद्रव्य-संपादनस्य कृष्यादिक्लेश-बहुलतया सर्वजनसुप्रसिद्धत्वात्। तर्हि भुज्यमानाःकामा सुखहेतवः संभूतिसेव्यास्ते इत्याह, प्राप्तावित्यादि। प्राप्तौ इन्द्रियेण सम्बन्धे सति अतृप्तेः सुतृष्णायाः प्रतिपादकान् दायकान्। उक्तं च [ज्ञानार्णवे २०-३०]—

"अपि संकल्पिताः कामाः संभवंति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥"

तर्हि यथेष्ठं भुक्त्वा तृप्तेषु तेषु तृष्णासंतापः शाम्यतीति सेव्यास्ते इत्याह। अन्ते सुदुत्त्यजान् भुक्तिप्रांते त्यक्तुमशक्यान्। सुभुक्तेष्वपि तेषु मनाव्यतिषंगस्य दुर्निवारत्वात्। उक्तं च —

"दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तुष्येदुदधिर्नदीशतैः
ननु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु कापि कर्म्मणः ॥

अपि च—किमपीदं विषमयं विषमतिविषमं पुमानयं येन।
प्रसभमनुभूयमानो भवे भवे नैव चेतयते ॥

ननु तत्त्वविदोऽपि भोगानभुक्तवन्तो न श्रयन्ते इति कामान् कः सेवते सुधीरित्युपदेशः कथं श्रद्धीयत इत्याह। काममिति। अत्यर्थं। इदमत्र तात्पर्यं चारित्रमोहोदयात् भोगान् त्यक्तुमशक्नुवन्नपि तत्त्वज्ञो हेयरूपतया कामान्पश्यन्नेव सेवते मन्दीभवन्मोहोदयस्तु ज्ञान-वैराग्य-भावनया करणग्रामं संयम्य सहसा स्वकार्यायोत्सहत एव। तथा चोक्तम्—

'इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो,
व्ययोयमनुषंगजं फलमिदं दृशेयं मम।
अयं सुहृदयं द्विषत् प्रयतिदेशकालाविमा,
विति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः॥

अब विषय-भोगों के द्वारा जो दुख और अशान्ति जीव को मिलती है, उस पर प्रकाश डालते हैं—

अन्वयार्थ--(आरम्भे)प्रारम्भमें(तापकान्)सन्ताप देनेवाले (प्राप्तौ)प्राप्त हो जानेपर(अतृप्तिप्रतिपादकान्,अतृप्ति—तृष्णा-बढ़ानेवाले (अन्ते) अन्तमें (सुदुस्त्याज्यान्) बहुत कठिनाई से छूटने योग्य (कामान्) विषय भोगों को (कः सुधीः) कौन बुद्धिमान पुरुष (कामं) बड़ीरुचि से (सेवते) सेवन करता है ? यानी--कोई भी बुद्धिमान रुचिसे नहीं भोगता।

भावार्थ—प्रारम्भ में भोजन, वस्त्र, स्त्री आदि विषय-भोगोंकी सामग्रीको प्राप्त करनेमें खेतीबाड़ी, व्यापार,चाकरी करने आदि के रूपमें बहुत परिश्रम करने का दुख उठाना पड़ता है। जब इन्द्रियोंके विषयभोगोंकी सामग्री मिल जाती है तो उनका भोग उपभोग करने पर उनके भोगने की तृष्णा शान्त नहीं होती, उनके भोगने की लालसा इच्छा और अधिक बढ़ती जाती है। इस कारण अन्त में उन विषयभोगों से छुटकारा पाना बहुत कठिन हो जाता है। इसलिये आत्मदर्शी बुद्धिमान पुरुष विषयभोगों को उदासीनता से (बेमना होकर) भोगता है, उनमें तन्मय नहीं हो जाता, क्योंकि वह समझता

है कि जैसे अग्नि में लकड़ियां डालने से अग्नि शान्त नहीं होती, उसी तरह विषयभोगों के भोगने से भोग लालसा भी शान्त नहीं होती, यह तो विषयभोगोंके त्याग कर देनेपर ही शान्त होती है॥ १७ ॥

किंच 'यदर्थमेतदेवंविधमिति ।' भद्र ! यत्कायलक्षणं वस्तुसंतापाद्युपेतं कर्तुकामस्त्वया प्रार्थ्यते तद्वक्ष्यमाण-लक्षणमित्यर्थः । स एवंविध इति पाठः तद्यथा—

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि ।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥१८॥

टीका—वर्तते । कोऽसौ, सः कायः शरीरं किंविशिष्टं संततापायः नित्यक्षुधाद्युपतापः । स क, इत्याह—यत्संगं येन कायेन सह संबंधं प्राप्य लब्ध्वा शुचीन्यपि पवित्ररम्याण्यपि भोजनवस्त्रादिवस्तून्यशुचीनि भवंति यतश्चैवं ततस्तदर्थं तं संततापायं कायं शुचिवस्तुभिरुपकर्तुं प्रार्थना आकांक्षा तेषामेव वृथा व्यर्था केनचिदुपायेन निवारितेऽपि एकस्मिन्नपाये क्षणे क्षणे परापरापायोपनिपातसंभवात् ।

अब शरीरकी अपवित्रता पर प्रकाश डालते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

अन्वयार्थ-- (यत्संगं प्राप्य) जिसका संयोग पाकर (शुचीनि अपि) चन्दन, कपूर, फल, फूल, दूध, वस्त्र आदि पवित्र पदार्थ भी (अशुचीनि) अपवित्र (भवन्ति)हो जाते हैं (सःकायः) वह शरीर (सन्ततापायः) सदा विनाशीक बना रहता है (तदर्थं) उसको पुष्ट या पवित्र करने की (प्रार्थना) चेष्टा या कामना करना (वृथा) व्यर्थ है, निष्फल है।

भावार्थ--संसार में फल, फूल, कपूर, चन्दन, तेल, इत्र, दूध, घी, सुन्दर वस्त्र आदि पदार्थ सुगन्धित, मीठे, देखने में सुन्दर, पवित्र पाये जाते हैं परन्तु वे सभी पवित्र सुगन्धित मनोहर पदार्थ शरीरके साथ भोगमें आते ही यानी—मुखद्वारा खा लेने पर विष्ठ, मूत्र, रक्त, मांस आदि धातु उपधातु रूप बनकर अपवित्र घिनावने, दुर्गन्धित बन जाते हैं, फूलोंका हार पहनते ही वे फूल सुगन्धहीन होकर मुर्झा जाते हैं, इत्र तेल फुलेल, चन्दन, कपूर शरीर पर लगाते ही पसीने से दुर्गन्ध-मय हो जाते हैं। सुन्दर वस्त्रोंको शरीर पर पहनने से वे सुन्दर वस्त्र शरीर के मैल से मैले, दुर्गन्धित हो जाते हैं। इस तरह शरीर को सुन्दर, सुगन्धित अच्छा बनाने का चाहे जितना प्रयत्न किया जाय परन्तु यह कभी पवित्र सुगन्धित सुन्दर नहीं बनसकता, इससे विपरीत दूसरी अच्छी वस्तुओं को छूते ही बुरी बना देता है। तथा वह विनश्वर भी है। इस लिये शरीर को सुगन्धित, सुन्दर, स्वच्छ, पवित्र बनाने की चेष्टा करना निष्फल--व्यर्थ है।

पुनरप्याह शिष्यः ! तर्हि धनादिनाप्यात्मोपकारो भविष्यतीति।' भगवन् ! संततापायतया कायस्य धनादिना यद्युपकारो न स्यात्तर्हि धनादिनापि न केवलमनशनादितपश्चरणेनेत्यपि शब्दार्थः। आत्मनो जीवस्योपकारोऽनुग्रहो भविष्यतीत्यर्थः। गुरुराह तन्नेति। यत्त्वया धनादिना आत्मोपकारभवनं संभाव्यते तन्नास्ति। यतः—

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम् ।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकं ॥१९ ॥

टीका— यदनशनादितपोऽनुष्ठानं जीवस्य पूर्वापूर्वपापक्षपणनिवारणाभ्यामुपकाराय स्यात्तद्देहस्यापकारकं ग्लान्यादिनिमित्तत्वात् । यत्पुनर्धनादिकं देहस्य भोजनाद्युपयोगेन क्षुधाद्युपतापक्षयत्वाद्उपकाराय स्यात्तज्जीवस्योपार्ज्जनादौ पापजनकत्वेन दुर्गतेः दुःखनिमित्तत्वादपकारकं स्यादतो जानीहि जीवस्य धनादिना नोपकारगंधोप्यस्ति धर्मस्यैव तदुपकारत्वात् ।

अत्राह शिष्यः । तर्हि कायस्योपकारश्चिंत्यते इति भगवन् ! यत्रैवं तर्हि 'शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्' इत्यभिधानात्तस्यापायनिरासाय यत्नः क्रियते न च कायस्यापायनिरासो दुष्कर इति वाच्यम् । ध्यानेन तस्यापि सुकरत्वात् । तथा चोक्तम् (तत्त्वानुशासने)—

"यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत् ।
एतस्य द्विगुणस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणम्" ॥ २१७ ॥

अब यह बताते हैं कि जो बात शरीर को लाभदायक है वह आत्मा को हानिकारक है और जो बात आत्मा का कल्याण करती है उससे शरीर को हानि होती है—

अन्वयार्थ—(यत्जीवस्य उपकाराय) जो काम--व्रत, उपवास, सामायिक, स्वाध्याय आदि आत्माका उपकार—कल्याणकरने वाला है (तत्) वह काम (देहस्य) शरीर का (अपकारकम्) हानि करने वाला है, और (यत्) जो धन, भोजन, विषय-भोग आदि काम (देहस्य) शरीर का (उपकाराय)उपकार करने वाला है (तत्) वह काम (जीवस्य) आत्माका (अप-

कारकम्) बुरा यानी-अपकार करने वाला है।

भावार्थ-शरीर जड़ है, मूर्तिक है, विनश्वर है, और आत्मा ज्ञान दर्शनमय चेतन है, अमूर्तिक है, अविनाशी है। इस तरह दोनों परस्पर में एक दूसरे के विरोधी हैं। तदनुसार जिस बात से शरीर का भला होता है, उससे आत्मा का बुरा होता है और जिस कार्यसे आत्म-कल्याण होताहै उससे शरीरको हानि होती है। शरीर को खूब खिलाने पिलाने, विषय भोगों में रमाने से सुख शान्ति, पुष्टि होती है किन्तु आत्मा को इससे नरक आदि दुर्गति में जाना पड़ता है। आत्मा को सामायिक स्वाध्याय, व्रत तप, संयम द्वारा कर्म क्षय करनेपर केवलज्ञान, अनन्तसुख आदि मिलता है परन्तु व्रत संयम आदि करने से शरीर निर्बल, क्षीण होता है ॥ १६ ॥

'झाणस्स ण दुल्लहं किंपीति च'—अत्र गुरुः प्रतिषेधमाह तन्नेति। ध्यानेन कायस्योपकारो न चिंत्य इत्यर्थः।

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखंडकं।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियंतां विवेकिनः ॥२०॥

टीका— अस्ति। कोऽसौ ? चिन्तामणिः — चिंतितार्थप्रदो रत्नविशेषः। किं विशिष्टो ? दिव्यो देवेनाधिष्ठितः। क्व, इत अस्मिन्नेकस्मिन् पक्षे इतश्चान्यस्मिन् पक्षे पिण्याकखण्डकं कुत्सितमल्पं वा खलखण्डकमस्ति एतौ च उभे द्वेअपि यदि ध्यानेन लभ्येते अवश्यं लभ्येते तर्हि कथय क्व द्वयोर्मध्ये कतरस्मिन्नेकस्मिन् विवेकिनो लोभच्छे-

द्विचारचतुरा आद्रियन्तां आदरं कुर्वन्तु। तदैहिकफलाभिलाषं त्यक्त्वा आमुत्रिकफलसिद्धयर्थमेवात्मा ध्यातव्यः। उक्तंच(तत्त्वानुशासने

"तद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिकफलार्थिनां।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम् ॥"

अब ग्रन्थकार पूछते हैं कि ध्यान के द्वारा सब कुछ प्राप्त होता है, ऐसी दशामें तुम क्या चाहते हो—

अन्वयार्थ—(इतः) उधर तो यानो--धर्मध्यान शुक्लध्यान से (दिव्यः) दिव्य—देवों से पूज्य (चिन्तामणिः) इच्छित पदार्थ देने वाला रत्न है और (इतः) उधर यानी—आर्तध्यान रौद्रध्यानसे (पिण्याकखण्डकम्) खलका टुकड़ा मिलता है। (चेत्) यदि (उभे) दोनों-यानी—चिन्तामणिरत्न और खल का टुकड़ा (ध्यानेन)ध्यान द्वारा (लभ्ये) मिलते हैं तो (विवेकिनः) बुद्धिमान मनुष्य (क्व) कहां पर (आद्रियन्ताम्) आदर करें यानी-किसको पाने की चेष्टा करें ?

भावार्थ—मन को किसी एक बात पर ठहराना-एकाग्र-विचार करना 'ध्यान' है। वह चार प्रकारका है-१-आर्तध्यान (सांसारिक विषयभोगों की इच्छा रूप, तथा-पुत्र स्त्री आदि के वियोग होने पर या रोग आदि होने पर दुखी— व्याकुल विचार) २—रौद्रध्यान (द्वेष, क्रोध, लोभ आदि से हिंसा झूठ, चोरी, परिग्रह संचय करने के परिणाम), ३-धर्मध्यान (आज्ञाविचय आदि रूप अपने तथा अन्य आत्माओंके उपकार के विचार) और शुक्लध्यान (रागद्वेपरहित शुद्ध परिणाम—

कर्मों को क्षय करने वाला ध्यान)। इनमेंसे आर्तध्यान, रौद्र ध्यान से तो संसार में जन्म मरण होता रहता है। धर्मध्यान द्वारा कर्मों का संवर निर्जरा तथा तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, वासुदेव, इन्द्र, धरणीन्द्र, स्वर्ग आदिपद प्राप्त होते हैं। शुक्लध्यान द्वारा कर्मोंका क्षय होकर संसार से मुक्ति मिलती है, अनन्तज्ञान अनन्तसुख मिलता है। इस लिये बुद्धिमान स्त्री पुरुषों को आर्तध्यान रौद्रध्यान का त्याग करना चाहिये और धर्मध्यान शुक्लध्यान करने का प्रयत्न करना चाहिये ॥॥२०॥

अथैवमुद्बोधितश्रद्धानो विनेयः पृच्छति स आत्मा कीदृश इति यो युष्माभिर्ध्यातव्यतयोपदिष्टः पुमान् स किंस्वरूप इत्यर्थः गुरुराह-

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥२१॥

टीका — अस्ति। कोऽसौ ? आत्मा। कीदृशः लोकालोकविलोकनः लोको जीवाद्याकीर्णमाकाशं ततोऽन्यदलोकः तौ विशेषेण अशेषविशेषनिष्ठतया लोक्यते पश्यति जानाति। ऐतेन "ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मा" इति सांख्यमतं, बुद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमानिति योगमतं च प्रत्युक्तं। प्रतिध्वस्तश्च नैरात्म्यवादो बौद्धानां। पुनः कीदृशः ? अत्यन्तसौख्यवान्-अनन्तसुखस्वभावः। एतेन सांख्ययोगतन्त्रं प्रत्याहतं। पुनरपि कीदृशस्तनुमात्रः स्वोपात्तशरीरपरिमाणः। एतेन व्यापकं वटकणिकामात्रं चात्मानं वदंतौ प्रत्याख्यातौ। पुनरपि कीदृशः, निरत्ययः द्रव्यरूपतया नित्यः। एतेन गर्भादिमरणपर्यन्तं जीवं प्रतिजानानश्चार्वाको निराकृतः। ननु प्रमाणसिद्धे वस्तुन्येवं गुण-

वाद: श्रेयान्न चात्मनस्तथा प्रमाणसिद्धत्वमस्तीत्यारेकायामाह स्वसंवेदनसुव्यक्त इति । (उक्तं च तत्वानुशासने)

"वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः ।
तत्स्वसंवेदन प्राहरात्मनोऽनुभवं दृशम् ।।" ।।१६१।।

इत्येवं लक्षणस्वसंवेदनप्रत्यक्षेण मकलप्रमाणधुर्येण सुष्ठु उक्तैश्च गुणैः संपूर्णतया व्यक्तः विशदतयानुभूतो योगिभिः स्वेकदेशेन ।

अब आचार्य ध्यान करनेके लिये आत्माका स्वरूप बतलाते हैं—

अन्वयार्थ– (आत्मा) यह आत्मा (स्वसंवेदनसुव्यक्तः) आत्म-अनुभव द्वारा स्पष्ट प्रगट होता है यानी-जाना जाता है, (तनुमात्रः) वह शरीर के बराबर है, (निरत्ययः)अविनाशी है-कभी इसका नाश नहीं होता । (अत्यन्तसौख्यवान्) अनन्तसुखवाला है (लोकालोकविलोचनः) ऊर्ध्व, मध्य, पातालका-यानी-समस्त जगत का तथा जगतके बाहर अनन्त अलोकाकाश का जानने देखने वाला है ।

भावार्थ—आत्मा अमूर्तिक पदार्थ है, इस कारण नेत्रों से दिखाई नहीं देता,वह तो अपने ही स्वसंवेदन(अपनाही अनुभव करने वाले) ज्ञान द्वारा जाना जाता है । आत्मा अपने शरीर में ही रहता है, न तो शरीर से बाहर होता है और न शरीर का कोई भाग आत्मा के विना होता है । आत्मा कभी किसी तरह नष्ट भी नहीं होता, उसका शरीर जीर्ण शीर्ण होकर बदल जाता है किन्तु आत्मा वही बना रहता है ।

मोहनीय वेदनीय आदि कर्मों के क्षय हो जाने पर शुद्ध आत्मा अनन्तसुखी हो जाता है। ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म नष्ट हो जानेसे आत्मा अपने केवलज्ञान केवलदर्शन द्वारा समस्तलोक अलोक को स्पष्ट जानता देखता है ॥ २१ ॥

अत्राह शिष्यः यद्येवमस्ति तस्योपास्तिः कथमिति स्पष्टं आत्मसेवोपायप्रश्नोऽयम्। गुरुराह—

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थित॥२२॥

टीका—ध्यायेत्। भावयेत् कोऽसौ ? आत्मवान् गुप्तेन्द्रियमनाः स्वस्तस्वायत्तवृत्तिर्वा। कं ? आत्मानं यथोक्तस्वभावं पुरुषं। केन ? आत्मनैव स्वसंवेदनरूपेण स्वेनैव तज्ज्ञप्तौ कारणांतराभावात् उक्तं च (तत्त्वानुशासने)—

"स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात् न तस्य कारणांतरम्।
ततश्चिन्तां परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यताम् ॥ १६२ ॥"

क्व तिष्ठंतमित्याह, आत्मनि स्थितं वस्तुतः सर्वभावनां स्वस्य मात्राधारत्वात्। किं ? कृत्वा संयम्य रूपादिभ्यो व्यावृत्य। किं ? करणग्रामं चक्षुरादीन्द्रियगणं। केनोपायेन ? एकाग्रत्वेन एके विवक्षितमात्मानं तं द्रव्यं पर्यायो वा अग्रं प्राधान्येनालंबनं विषयो यस्य अथ वा एकं पूर्वापरपर्यायाऽनुस्यूतं अग्रमात्मग्राह्यं तस्य तदेकाग्रं तद्भावेन। कस्य ? चेतसो मनसः। अयमर्थो यत्र क्वचिदात्मन्येव वा श्रुतज्ञानावष्टंभात् आलंबितेन मनसा। इन्द्रियाणि निरुध्य स्वात्मानं च भावयित्वा तत्रैकाग्रतामासाद्य चिंतां त्यक्त्वा स्वसंवेदनेनैवात्मानमनुभवेत्। उक्तं च—

"गहियं तं सुअणाणा पच्छा संवेयणेण भाविज्ज ।
जो ण हु सुयमवलंवइ सो मुज्झइ अप्पसव्भावो ॥"

तथा च (समाधितन्त्रे)–"प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितं ।
वोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिवृतम् ॥ ३२॥

अब ग्रन्थकार आत्माके ध्यान करने की विधि बतलाते हैं—

अन्वयार्थ– (आत्मवान्) आत्मा (करणग्रामं) स्पर्शन आदि पांचों इन्द्रियोंको (संयम्य) बाहरी विषयों से रोककर (मनसः) चित्त की (एकाग्रत्वेन) एकाग्रता से (आत्मनि) अपने आत्मामें (स्थितम्) स्थिर होकर (आत्मना एव) अपने आत्मा द्वारा ही (आत्मानं) अपने आत्माको (ध्यायेत्) चिन्तवन करे ।

भावार्थ-एक समयमें एकही पदार्थ पर उपयोग ठहरता है, इस कारण जिस समय इन्द्रियां बाहरी पदार्थों को जानती रहती हैं तब तक आत्मा अपने आप का ध्यान नहीं करसकता इस कारण अपना चिन्तवन करनेके लिये इन्द्रियों को बाहरी विषयों की ओर से हटाकर अपने मनको अपने आत्मा में ठहरा कर अपने आत्मद्रव्य का या आत्मा की शुद्ध पर्यायका चिन्तवन करना चाहिये । उस एकाग्र आत्म-चिन्तन से आत्मा का अनुभव होता है । राग-द्वेष आदि कषायभावके न होने से कर्म-वन्ध होना रुक जाता है, कर्मोंका संवर और कर्मोंकी निर्जरा होती है । इस तरह आत्मध्यानद्वारा कर्म नष्ट हो जाते हैं । इस कारण आत्मध्यान अपने आत्मामें ठहरकर अपने

द्वारा ही हुआ करता है। इसका अभ्यास करना चाहिये।

अथाह शिष्यः ! आत्मोपासनया किमिति भगवन्नात्मसेवनया किं प्रयोजनं स्यात् ? फलप्रतिपत्तिपूर्वकत्वात् प्रेक्षावत्प्रवृत्तेरिति पृष्टः सन्नाचष्टे;—

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥

टीका—ददाति। कासौ, अज्ञानस्य देहादेर्मूढभ्रांतिः संदिग्धगुर्वादेर्वा उपास्तिः सेवा। किं ? अज्ञानं, मोहभ्रमसन्देहलक्षणं तथा ददाति। कासौ ? ज्ञानिनः स्वभावस्यात्मनो ज्ञानसंपन्न गुर्वादेर्वासमाश्रयः। अनन्यपरया सेवनं। किं ? ज्ञानं स्वार्थावबोधं। उक्तं च,—

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥

को अत्र दृष्टांत इत्याह यदित्यादि ददातीत्यत्रापि योज्यं 'तुरवधारणे' तेनायमर्थः संपद्यते। यदेव यस्य स्वाधीनं विद्यते स सेव्यमानः तदेव ददातीत्येतद्वाक्यं लोके सुप्रतीतमतो भव्रज्ञानिनमुपास्य समुल्लंभितस्वपरविवेकज्योतिरजस्रमात्मानमात्मात्मनि सेव्यश्च।

अब आचार्य बतलाते है कि किस पुरूष की संगति और उपासना करनेसे क्या फल मिलता है—

अन्वयार्थ—(अज्ञानोपास्तिः) आत्मज्ञान—शून्य अज्ञानी की सेवा उपासना (अज्ञानं ददादि) अज्ञान देती है और (ज्ञानिसमाश्रयः) ज्ञानियों की सेवा उपासना (ज्ञानं) ज्ञान उत्पन्न करती है। क्योंकि (इदम्) यह (वचः) बात (सुप्रसिद्धम्) अच्छी तरह प्रसिद्ध है कि (यस्य) जिस

मनुष्य के पास (यत्तु) जो कुछ होता है उसीको वह(ददाति) देता है।

भावार्थ- संगति, सेवा, उपासना का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। यदि ज्ञानी विद्वान मुनि की सेवा उपासना,संगति की जावे तो उस सेवा उपासना, संगति द्वारा संसारसे, विषय भोगों से तथा शरीर की मोह-ममता से हटाने वाला सच्चा ज्ञान मिला करता है और यदि अज्ञानी गुरू की सेवा उपासना या संगति की जावे तो उससे अज्ञान की बातें मिलेंगी, संसारमें राग द्वेष फैलाने वाली बातें अभ्यासमें आवेंगी। इस कारण अज्ञानियों की संगति सेवा उपासना छोड़कर ज्ञानवान सज्जन निःस्पृह मुनिको अपना गुरू बनाकर उसकी सेवा उपासना करनी चाहिये जिससे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो।

अत्राप्याह शिष्यः। ज्ञानिनोऽध्यात्मस्थस्य किं भवतीति।निष्पन्न-योग्यपेक्षया स्वात्मध्यानफलप्रश्नोयम्। गुरुराह;—

परिषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा॥ २४॥

टीका—जायते भवति। कासौ ? निर्ज्जरा एकदेशेन संक्षयो वि-श्लेष इत्यर्थः। केषां ? कर्म्मणां सिद्धयोग्यपेक्षयाऽशुभानां च शुभानां साध्ययोग्यपेक्षयास्त्रवसद्वेद्यादीनां। कथमाशु सद्यः। केन ? अध्यात्म-योगेन आत्मन्यात्मनः प्रणिधानेन, किं केवला नेत्याह निरोधिनी प्रतिषेधयुक्ता कस्यास्त्रवस्यागमस्य कर्मणामित्यत्रापि योज्यं। कुत

इत्याह, परीषहानां क्षुधादिदुःखभेदानामादिशब्दाद्देवादिकृतोपसर्ग-वाधानां चाविज्ञानादसंवेदनात् । तथा चोक्तम् —

'यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलितं स्वयम् ।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः' ॥ १ ॥

तथाच—(तत्वानुशासने)—

'तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा ।
निर्जरा संवरश्चास्य सकलाशुभकर्मणां ॥ २२५ ॥

अपि च —(समाधितन्त्रे)—

आत्मदेहांतरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥ ३३ ॥

एतच्च व्यवहारनयादुच्यते । कुत इत्याशंकायां पुनराचार्य एवाह स खलु कर्म्मणो भवति तस्य सम्बन्धस्तदा कथमिति । वत्स ! आकर्णय खलु यस्मात् सा एकदेशेन विश्लेषणा निर्ज्जरा कर्म्मणः चित्सामान्यानुविधायिपुद्गलपरिणामरूपस्य द्रव्यकर्मणः सम्बन्धिनी सम्भवति द्रव्ययोरेव संयोगपूर्वविभागसम्भवात् तस्य च द्रव्यकर्मणस्तदा योगिनः स्वरूपमात्रावस्थानकाले सम्बन्धः प्रत्यासत्तिरात्मना सह । कथं ? केन संयोगादिप्रकारेण सम्भवति सूक्ष्मेक्षिकया समीक्ष्यस्व न कथमपि सम्भवतीत्यर्थः । यदा खल्वात्मैव ध्यानं ध्येयं च स्यात्तदा सर्वात्मनाप्यात्मनः परद्रव्याद् व्यावृत्य स्वरूपमात्रावस्थितत्वात्कथं द्रव्यान्तरेण संवंधः स्यात्तस्य द्विष्ठत्वात् । न चैतत् संसारिणो न सम्भवतीति वाच्यं । संसारतीरप्राप्तस्य योगिनो मुक्तात्मवत्पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणकालं यावत्तथावस्थानसंभवात्-कर्मक्षपणाभिमुखस्य लक्षणोत्कृष्टशुक्ललेश्यासंस्कारावेशवशात्तावन्मात्रकर्म्मपारतन्त्र्यव्यवहरणात् ।

तथाचोक्तम् परमागमे—

'सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगी केवली होदि॥'

अब आत्मध्यानका फल बतलाते हैं—

अन्वयार्थ– (अध्यात्मयोगेन) आत्माका चिन्तवन करने से (परिषहाद्यविज्ञानात्) परिषहों तथा उपसर्ग आदि का ज्ञान-अनुभव नहीं होता, उससे (आस्रवस्य निरोधिनी)कर्मों के आस्रव को रोकने वाली (कर्मणाम्) पहले बन्धे हुए कर्मों की (निर्जरा) निर्जरा (आशु) शीघ्र (जायते) होने लगती है।

भावार्थ–मन जिस ओर लग जाता है, उस समय उसके सिवाय अन्य बातों का अनुभव नहीं होने पाता। तदनुसार जब चित्त आत्म-चिन्तन में लग जाता है तब मनका उपयोग अपने शरीर की ओर नहीं जाता, इसी कारण आत्म-ध्यानी शर्दी गर्मी, भूख प्यास आदि २२ तरहकी परिषहों का तथा किसी मनुष्य द्वारा या किसी वैरी देव द्वारा अथवा किसी पशु के द्वारा या आंधी, वर्षा आदि अचेतन पदार्थों द्वारा होने वाले उपसर्ग का अनुभव नहीं करते। उन परिषह और उपसर्गों का अनुभव न होने से आत्मामें शरीरका राग, दुख, क्षोभ तथा उपसर्ग करने वाले पर द्वेष, क्रोध आदि नहीं होता। इस तरह राग द्वेष न होने से उस समय कर्मोंका आस्रव नहीं होता है, कर्मोंकी निर्जरा ही होती रहती है।

श्रूयतां चास्य वार्थ(वाक्य)स्य संग्रहश्लोकः—

कटस्य कर्त्ताहमिति सम्बन्धः स्याद्द्वयोर्द्वयोः ।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा ॥२५॥

टीका —स्याद् भवेत् । कोऽसौ ? संबंधः द्रव्यादिना प्रत्यासत्तिः । कयोः ? द्वयोः कथंचिद्भिन्नयोः पदार्थयोः इति अनेन लोकप्रसिद्धेन प्रकारेण कथमिति यथाहमस्मि । कीदृशः, कर्ता निर्माता । कस्य ? कटस्य वंशदलानां जलादिप्रतिबन्धाद्यर्थस्य परिणामस्य । एवं संबन्धस्य द्विष्ठतां प्रदर्श्य प्रकृतेऽर्थनिरेकमाह । ध्यानमित्यादि ध्यायते येन ध्यायति वा यस्तद्ध्यानं ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्ता वा । उक्तं च; (तत्त्वानुशासने) —

'ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ॥ ६७ ॥'

ध्यायत इति ध्येयं चाध्याति क्रियया व्याप्यं । यदा यस्मिन्नात्मनः परमात्मना सहैकीकरणकाले आत्मैव चिन्मात्रमेव स्यात्तदा कीदृशः संयोगादिप्रकारः संबंधो द्रव्यकर्मणा महात्मनः स्यात् 'येन जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्म्मणामाशु निर्ज्जरेति' परमार्थतः कथ्यते ।

अत्र ग्रन्थकार कहते हैं कि आत्मध्यान करते समय कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं होता है—

अन्वयार्थ– (अहम्) मैं (कटस्य) चटाईका (कर्ता) कर्ता हूं–यानी बनाने वाला हूं (इति) इसप्रकार (सम्बन्धः) कर्ता कर्म सम्बंन्ध (द्वयोःद्वयोः) भिन्न भिन्न दो दो पदार्थों में (स्यात्) होता है । परन्तु (यदा) जब (ध्यानं)ध्यान (ध्येयं) ध्येय-जिसका ध्यान किया जाता है, वह (आत्मा-

एव) आत्मा ही हो (तदा) तब (कीदृशः) कैसा(सम्बन्धः) वह कर्ता कर्म सम्बन्ध हो सकता है ? अर्थात् नहीं ॥२५॥

भावार्थ–जब भिन्न भिन्न पदार्थ होते हैं तब तो एक पदार्थ दूसरे पदार्थ की पर्याय पलटने में निमित्त रूप में कर्ता होता है और जिस पदार्थ की पर्याय बदली जाती है वह कर्म होता है। जैसे मैं चटाई बनाता हुं। इसमें मैं (चटाई बनाने वाला–चटाई का कर्ता मनुष्य) अलग है और चटाई भिन्न जड़ पदार्थ है। इस कारण दोनोंका कर्ता-कर्म संबन्ध होता है परन्तु जब आत्मा अपना ध्यान करता है, तब यह कर्ता कर्म-संबंध नहीं होता है क्योंकि ध्यान करने वाला और चित्तकी एकाग्रता रूप ध्यान तथा ध्येय रूप पदार्थ आत्मा एक ही है, भिन्न भिन्न दो पदार्थ नहीं है।

अत्राह शिष्यः—तर्हि कथं बंधस्तत्प्रतिपक्षश्च मोक्ष इति भगवन् ! यद्यात्मकर्मद्रव्ययोरध्यात्मयोगेनविश्लेषः क्रियते तर्हि कथं केनोपायप्रकारेण तयोर्न्बंधः परस्परप्रदेशानुप्रवेशलक्षणः संश्लेषः स्यात्। तत्पूर्वकत्वाद्विश्लेषस्य कथं च तत्प्रतिपक्षो बंधविरोधिमोक्षः सकलकर्मविश्लेषलक्षणो जीवस्य स्यात्तस्यैवानंतरसुखहेतुत्वेन योगिभिः प्रार्थनीयत्वात्। गुरुराह—

बद्धयते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥ २६ ॥

टीका–ममेत्यव्ययं ममेदमित्यभिनिवेशार्थमव्ययानामनेकार्थत्वात् तेन सममो ममेदमित्यभिनिवेशाविष्टो अहमस्येत्यभिनिवेशाविष्टश्चोपल–

क्षणत्वात् जीवः कर्मभिर्बध्यते । तथा चोक्तम् —

'न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा,
न चापि करणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ।'
यदैक्यमुपयोगभूः संमुपयाति रागादिभिः ।
स एव किल केवलं भवति बन्धुहेतुर्नृणाम् ॥

तथा स एव जीवो निर्ममस्तद्विपरीतस्तैर्मुच्यत इति यथासंख्येन योजनार्थं क्रमादित्युपात्तं । उक्तं च (ज्ञानार्णवे)—

'अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥'

अथवा "रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागी विमुञ्चति ।
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः ॥"

यस्मादेवं तस्मात्सर्वप्रयत्नेन व्रताद्यवधानेन मनोवाक्कायाप्रणिधानेन वा निर्ममत्वं विचिन्तयेत् मत्तः कायादयोभिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः नाहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन इत्यादि श्रुतज्ञानभावनया मुमुक्षुर्विशेषेण भावयेत् । उक्तं च—

'निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवृत्तिं तदभावतः ।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम् ॥'

अब यह बतलाते हैं कि कौन व्यक्ति कर्म-बन्धन से बन्धता है और कौन कर्मबन्धन से छूटता है—

अन्वयार्थ— (सममः) ममता भाव वाला और (निर्ममः) ममता-रहित (जीवः) जीव (क्रमात्) क्रमसे (बद्ध्यते-मुच्यते) कर्मोंसे बंधता तथा छूटता है ।(तस्मात्)इस कारण (सर्व प्रयत्नेन) सब प्रयत्न से (निर्ममत्वं) निर्ममता रूपमें (विचिन्तयेत्) चिन्तवन करे ।

भावार्थ—संसारी जीव राग द्वेष परिणामोंके कारण कर्म-बन्धन से बन्ध कर संसार में भ्रमण करता है। वह राग और द्वेष जीवको पर-पदार्थों के साथ ममता भाव (ये मेरे हैं,यह मेरे हैं ऐसी भावना) करने से होते हैं। शरीर तथा पुत्र, स्त्री, माता,पिता आदि परिवार,धन तथा मकान आदि पदार्थों को अपना समझना ममता भाव है। इस ममता भावके कारण अपने इष्ट पदार्थों से संसारी जीव राग करता है और किसी पदार्थ को अनिष्ट समझकर उससे क्रोध, द्वेष आदि करता है, इन दुर्भावों से उसके कर्म बन्धते रहते हैं। जब आत्मा अपने स्वरूप को समझ कर अपने आत्माको अन्य पदार्थों से भिन्न (अलग) अनुभव करने लगता है तब उसकी किसी भी पर-पदार्थ से ममता नहीं रहती, तब वह निर्मोह भाव के कारण कर्म-बन्धन से छूटकर मुक्त हो जाता है ॥ २६॥

अथाह शिष्यः। कथं नु तदिति निर्ममत्वविचिंतनोपायप्रश्नोऽयं अथ गुरुस्तत्प्रक्रियां मम विज्ञस्य का स्पृहेति यावदुपदिशति —

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगेन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७

टीका — द्रव्यार्थिकनयादेकः पूर्वापरपर्यायानुस्यूतो निर्ममो-ममेद-महमस्येत्यभिनिवेशशून्यः शुद्धः शुद्धनयादेशाद्द्रव्यभावकर्ममुक्तो ज्ञानी स्व-पर प्रकाशनस्वभावो योगीन्द्रगोचरोऽनन्तपर्यायविशिष्टतया केव-लिनां शुद्धोपयोगमात्रमयत्वेन श्रुतकेवलिनां च संवेद्योहमात्मास्मि।

तु संयोगाद्द्रव्यकर्मसम्बन्धाद्याता,मया सह सम्बन्धं प्राप्ता भावा देहाद्-यस्ते सर्वेऽपि मत्तो मत्सकाशात्सर्वथा द्रव्यादिप्रकारेण बाह्या भिन्नाः संति ।

अब पदार्थों से ममता भाव छुड़ाने का उपाय बतलाते हैं–

अन्वयार्थ–सम्यग्दृष्टि चिन्तवन करता है कि (अहम्) मैं (एकः) एक हूं-अकेला हूं (निर्ममः मेरा और कोई नहीं है,(शुद्धः) मैं कर्मों के मिश्रण से रहित शुद्ध आत्मा हूं। (ज्ञानी , मैं ज्ञानी हूं, (योगीन्द्रगोचरः) मैं योगियों द्वारा जाना जाता हूं । (सर्वे अपि) सभी (संयोगजाः)कर्मोंके तथा शरीर के संयोगसे उत्पन्न होने वाले (भावाः) राग, द्वेष, मोह आदि भाव (मत्तः) मुझसे (सर्वथा) सब तरह से(बाह्याः) बाहर हैं–अलग हैं ।

भावार्थ–मेरा आत्मा वास्तव में सब जड़, चेतन पदार्थों से भिन्न अकेला एक है, जगतमें मेरा कोई नहीं है, मैं भाव-कर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म–शरीर से अलग शुद्ध हूं, चैतन्य-स्वरूप हूं , मेरा आत्मा इन्द्रियों द्वारा या साधारण संसारी जीवोंके द्वारा नहीं दीख सकता। मेरा आत्मा केवल-ज्ञानी तथा बड़े आत्मध्यानी योगियों से जाना जाता है । शरीर और कर्मों के संयोग से जो मेरा तेरा-पन को लिये हुए मोह ममता के, राग द्वेष के भाव होते हैं वे वास्तव में मेरे भाव नहीं हैं, ये सब मुझसे अलग हैं । इस तरह अपने आत्मा का शुद्ध स्वरूप विचार करने वाला सम्यग्दृष्टि मनुष्य चिन्तवन करे । ॥२७॥

" पुनर्भावक एवं विमृशति संयोगात्किमिति देहादिभि· संबंधाद्देहिनां किं फलं स्यादित्यर्थः । तत्र स्वयमेव समाधत्ते—

दुःखसन्दोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम् ।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥२८ ॥

टीका–दुःखानां संदोहः समूहस्तद्भागित्वं देहिनामिह संसारे संयोगाद्देहादिसंम्बन्धाद्भवेत् । यतश्चैवं तत एनं संयोगं सर्वं निःशेषं त्यजामि । कैः किं प्रमाणं, मनोवाक्कायकर्मभिर्मनोवर्गणाद्यालम्बनैरात्मप्रदेशपरिस्पन्दैस्तैरेव त्यजामि । अयमभिप्रायो मनोवाक्कायान्प्रति परिस्पन्दमानात्म प्रदेशान् भावतो निरुद्धामि । तद्भेदाभेदाभ्यासमूलत्वात्सुखदुःखैकफलनिवृत्तिसंसृत्यास्तथा चोक्तं (समाधितन्त्रे)—

"स्वबुद्धया यावद् गृह्णीयात्कायवाक्चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ६२ ॥

अब आचार्य कहते हैं कि आत्माको समस्त दुख शरीरके संयोगसे ही मिलते हैं–

अन्वयार्थ–(इह) इस संसार में (देहिनाम्) जीवोंको (संयोगात्) शरीर तथा कर्मों के संयोगसे (दुःखसन्दोहभागित्वं) अज्ञान, रोग, शोक, पीड़ा, चिन्ता आदि दुख समूहका भागीदार बनना पड़ता है । (ततः) इस कारण (एनं- सर्वं) इस सब शरीर और कर्मके संयोगको (मनोवाक्कायकर्मभिः) मन वचन काय की क्रिया से (त्यजामि) छोड़ता हूं ।

भावार्थ– संसार के सभी तरह के दुख शरीर के कारण आत्मा को हुआ करते हैं। यदि शरीर का संयोग आत्मा से न हो तो आत्मा को भूख, प्यास, जन्म, मरण, रोग, पीड़ा,

शोक, चिन्ता आदि किसी भी तरह का कोई दुख न हो। जैसे आग में तपा हुआ लोहा आग के संयोग से घन (भारी-हथौड़े) की मार सहता है इसी प्रकार यह आत्मा भी शरीरके संयोगसे सब तरहके दुख उठाता है। इस कारण दुखोंसे छूटनेके लिये आत्मा का अनुभवी सम्यग्दृष्टि जीव अपने मन से वचनसे और शरीरसे इस शारीरिक संयोगके छुड़ानेका प्रयत्न करता है। यानी—मन वचन की गुप्ति द्वारा अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है॥ २८॥

पुनः स एवं विमृशति पुद्गलेन किल संयोगस्तदपेक्षामरणादयस्तद्व्यथाः कथं परिहृयन्त इति। पुदगलेन देहात्मना मूर्तद्रव्येण सह किल आगमे श्रूयमाणो जीवस्य संबन्धाऽस्ति तदपेक्षाश्च पुद्गलसंयोगनिमित्तजीवस्य मरणादयो मृत्युरागादयः सम्भवंति। तद्यथा मरणादयः संभवन्ति मरणादि-सम्बन्धिन्यो बाधाः कथं? केन भावनाप्रकारेण मया परिहृयंते। तदभिभवः कथं निवार्यते इत्यर्थः। स्वयमेव समाधत्ते —

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले॥२९॥

टीका—न मे एकोहमित्यादिना निश्चितात्मस्वरूपस्य मृत्युः प्राणत्यागो नास्ति। चिच्छक्तिलक्षणभावप्राणानां कदाचिदपि त्यागाभावात्। यतश्च मे मरणं नास्ति ततः कुतः कस्मात्मरणकारणात्कृष्णसर्पादेर्भीतिर्भयं मम स्यान्न कुतश्चिदपि बिभेमीत्यर्थः। तथा व्याधिर्वातादिदोषवैषम्यं मम नास्ति मूर्तसम्बन्धित्वाद्वातादीनां। यतश्चैवं ततः कस्मात् ज्वरादिविकारात् मम व्यथा स्यात्तथा बालाद्यवस्थो नाहमस्मि, ततः कथं बालाद्यवस्थाप्रभवैः दुखैरभिभूयेयमहमिति सामर्थ्यादत्र दृष्टव्यं। तर्हि

क्व मृत्युप्रभृतीनि स्युरित्याह — एतानि मृत्युव्याधिबालादीनि पुद्गले मूर्ते देहादावेव सम्भवन्ति। मूर्तिधर्मत्वादमूर्ते मयि तेषां नितरामसम्भवात् भूयोऽपि भावक एव स्वयमाशंकते-तर्हि एतान्यासाद्य मुक्तानि पश्चात्तापकारीणि भविष्यंतीति यद्युक्तनीत्या भयादयो मे न भवेयुस्तर्हि एतानि देहादिवस्तून्यासाद्य जन्मप्रभृत्यात्मात्मीयभावेन प्रतिपद्य मुक्तानीदानीं भेदभावनावष्टंभान्मया त्यक्तानि। चिराभ्यस्ताभेदसंस्कारवशात्पश्चात्तापकारीणि किमितीमानि मयात्मीयानि त्यक्तानीत्यनुशयकारीणि मम भविष्यन्ति।

अब कहते हैं कि अन्तरात्मा को निर्भय बनानेके लिये कैसा विचार करना चाहिये —

अन्वयार्थ-(मे) मेरी (मृत्युः) मौत (न) नहीं है इस कारण (मे) मुझे (कुतः) कहां से-किससे (भीतिः) भय है? (मे) मेरे (व्याधिः) कोई रोग (न) नहीं है इसलिये (कुतः) कहांसे-कैसे (व्यथा) मुझे पीड़ा-दुख है? (अहम्) मैं (बालः न) बालक नहीं हूं, (अहम्) मैं (वृद्धः न) बूढ़ा नहीं हूं, (युवा न) मैं युवक-जवान नहीं हूं। (एतानि) ये सब बातें (पुद्गले पौद्गलिक शरीर में होती हैं।

भावार्थ-जो अपने किन्हीं अंशोंमें गलता है और किन्हीं अंशों में पूरण होता है-बढ़ता है वह मूर्तिक पदार्थ पुद्गल है संसारी जीवों का शरीर पुद्गल का बना हुआ होता है इसी कारण वह कभी उत्पन्न होता है, कभी बच्चा होता है, कभी जवान होता है, कभी बूढ़ा होता है और कभी मर जाता है, और कभी उसमें रोग होता है। आत्मामें न कभी एकभी अंश

बढ़ता है, न कभी कोई अंश कम होता है, सदा अखंड अविनाशी रहता है, अतः आत्मा का न कभी जन्म होता है, न वह कभी बालक, जवान बूढ़ा होता है, न कभी उसको कोई रोग होता है। और न कभी उसका मरण होता है तब फिर आत्माको क्यों तो किसी से भय लगे और क्यों उसे किसी तरहकी पीड़ा-दर्द हो। यह सब भाव तो शरीरको ही आत्मा समझ लेने वाले अज्ञानी के हुआ करते हैं ॥२९॥

अत्र स्वयमेव प्रतिषेधमनुध्यायति तन्नेति यतः—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा॥३०॥

टीका — मोहादविद्यावेशवशादनादिकालं कर्मादिभावेनोपादाय सर्वे पुद्गलाः मया संसारिणा जीवेन वारं वारं पूर्वमनुभूताः पश्चाच्च नीरसीकृत्य त्यक्ताः यतश्चैवं तत् उच्छिष्टेष्विव भोजनगंधमाल्यादिषु स्वयं भुक्त्वा त्यक्तेषु यथा लोकस्य तथा मे संप्रति विज्ञस्य तत्त्वज्ञानपरिणतस्य तेषु फेलाकल्पेषु पुदगलेषु का स्पृहा ? न कदाचिदपि। वत्स ! त्वया मोक्षार्थिना निर्ममत्वं विचिन्तनीयम्।

अब ग्रन्थकार भोगोंसे राग छुड़ानेके लिये एक युक्ति देते हैं—

अन्वयार्थ—अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि विषय-भोगों के विषय में विचार करता है कि (सर्वे अपि) सभी (पुद्गलाः)पुद्गल परमाणु (मया) मैंने (मोहात्) मोहसे (मुहुः) वार वार (भुक्तोज्झिता) भोगकर छोड दिये हैं, फिर (अद्य)आज अब (उच्छिष्टेषु इव) जूठन के समान (तेषु) उन पुद्गलों

में (विज्ञस्य) तत्ववेत्ता-बुद्धिमान (मम) मेरी (का) क्या (स्पृहा) अभिलाषा है ? अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थ—प्रत्येक संसारी जीव इस संसारमें अनादि कालसे जन्म-मरण कर रहा है। इस जीवने तीनों लोकोंमें जितने भी पुद्गल परमाणु हैं वे अनेक वार भोजन पान आदि के रूपमें तथा शरीरके भोग्य उपभोग्य पदार्थोंके रूपमें भोग भोगकर छोड़ दिये हैं ! ऐसा कोई भी अछूता परमाणु नहीं बचा जो इसके भोगनेमें अनेक वार न आया हो, इस लिये सभी पुद्गल वर्गणाओं को जब यह आत्मा खाने पीने आदिके रूपमें अनेक वार भोग चुका है तो सभी पुद्गल परमाणु इसके लिये जूठन की तरह हो चुके हैं। इसलिये फिर उनही जूठन रूप पुद्गल परमाणुओं के भोगने में सम्यग्दृष्टि जीव की रुचि नहीं होती जिस तरह कि कोई भी बुद्धिमान अपने मुख के उगले हुए भोजन को फिर नहीं खाना चाहता। ३०॥

अत्राह शिष्यः। अथ कथं ते निबध्यत इति। अथेति प्रश्ने केन प्रकारेण पुद्गला जीवेन नियतमुपादीयन्त इत्यर्थः गुरुराह—

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति ३१

टीका—"कत्थवि बलिओ जीवो कत्थवि कम्माइं हुंति बलियाइं।
जीवस्स य कम्मस य पुव्वविरुद्धाइं वइराइं॥"

इत्यभिधानात्पूर्वोपार्जितं बलवत्कर्म कर्मणः स्वस्यैव हितमाबध्नाति

जीवस्यौदयिकादिभावमुद्भाव्य नवनवकर्माधायकत्वेन स्वसंतानं पुष्णातीत्यर्थः । तथा चोक्तम् (पुरुषार्थसिद्ध्युपाये)—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।

स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।

भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३॥

तथा जीवः कालादिलब्ध्या बलवानात्मा जीवस्य स्वस्यैव हितमनंतसुखहेतुत्वेनोपकारकं मोक्षमाकांक्षति । अत्र दृष्टान्तमाह—स्वस्वेत्यादि । निजनिजमाहात्म्यबहुतरत्वे सति स्वार्थं स्वस्योपकारकं वस्तु को न वाञ्छति, सर्वोप्यभिलषतीत्यर्थः ततो विद्धि कर्माविष्टो जीवः कर्मसंचिनोतीति ॥ ३१ ॥

अब आचार्य कहते हैं कि संसार में सब कोई अपना हित करना चाहता है—

अन्वयार्थ—(कर्म) ज्ञानावरण मोहनीय आदि कर्म (कर्महितावन्धि) अपने हित रूप साथी कर्मोंको ही बांधता है (जीवः) आत्मा (जीवहितस्पृहः) अपने आत्माके हितकी इच्छा करता है (स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे) अपने अपने शक्ति-शाली प्रभाव के होने पर (कः वा) कौनसा व्यक्ति (स्वार्थं) अपना हित (न वाञ्छति) नहीं चाहता अर्थात् सभी चाहते हैं ॥ ३१ ॥

भावार्थ—संसार में सब कोई अपना बल पाकर अपना स्वार्थ सिद्ध किया करता है। तदनुसार जब संसारी जीवके मोहनीय ज्ञानावरण आदि कर्म प्रबल होते हैं, तब आत्माको मोह राग द्वेष मिथ्यात्व अज्ञान आदि भाव उत्पन्न करके और अपने

साथी मोहनीय ज्ञानावरण आदि कर्मोंको इस आत्माके साथ बन्धन कराते हैं, तथा आत्माको नरक निगोद आदि गतियों में भ्रमण कराते हैं। अनादिकाल से अब तक अनन्तानन्त संसारी जीव कर्मकी इस बलवत्ता (शक्ति) के कारण संसार में भ्रमण कर रहे हैं। परन्तु सच्चे गुरूका उपदेश आदि का शुभ समागम पाकर जब आत्माको अपनी रुचि(सम्यक्दर्शन) हो जाती है तब आत्मा प्रबल बन जाता है। उस समय वह कर्मोंका संवर, निर्जरा करके कर्मोंकी शक्ति को क्षीण करता हुआ अपने ज्ञान चारित्र आदि गुणोंको बढ़ाकरके कर्मोंसे मुक्त होने का प्रयत्न करता है। इस तरह सब कोई अपना अवसर पाकर अपना स्वार्थ सिद्ध किया करता है ।

यतश्चैवं ततः—

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥ ३२॥

टीका— परस्य कर्मणो देहादेर्वा अविद्यावशात् क्रियमाणमुपकारं विद्याभ्यासेन त्यक्त्वात्मानुग्रहप्रधानो भव त्वं। किं कुर्वन्सन् ? उपकुर्वन् ! कस्य:परस्य सर्वथा स्वस्माद्बाह्यस्य दृश्यमानस्येन्द्रियैरनुभूयमानदेहादेः। किं विशिष्टो यतस्त्वं अज्ञस्तत्त्वानभिज्ञः किंवल्लोकवत्। यथा लोकः परं परत्वेनाजानन्तस्योपकुर्वन्नपि तं तत्त्वेन ज्ञात्वा तदुपकारं त्यक्त्वा स्वोपकारी भवत्येवं त्वमपि भवेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

ग्रन्थकार समझाते हैं कि आत्मा को अपना हित करना चाहिये—

अन्वयार्थ—हे आत्मन् ! तू (परोपकृतिं) पर यानी—

अन्य के उपकार करने को (उत्सृज्य) त्याग करके (स्वोपकारपरः) अपने उपकार करनेमें तत्पर (भव) हो जा(दृश्यमानस्य लोकवत्) दिखाई देने वाले इस जगतकी तरह। (अज्ञः) अज्ञानी जीव (परस्य)अन्य पदार्थ का (उपकुर्वन्) उपकार करता हुआ पाया जाता है।

भावार्थ—बुद्धिमान पुरुष मुख्यरूप से अपना हित करता है अज्ञानी अपना उपकार करना छोड़कर अन्यका उपकार करने में लगा रहता है। इसी कारण वह सुखी नहीं होता,सदा दुखी रहता है। संसारी जीव जड़ शरीर के तथा पुत्र, स्त्री, मित्र आदि अन्य जड़, चेतन पदार्थों के पालन पोषण या चाकरी में अपना सारा जीवन विता देता है, वह अपने आत्मा का कुछ भी भला नहीं करता। इसी कारण वह जन्म मरण के चक्करमें पड़ा हुआ दुख भोगता रहता है। सारे संसारी जीव इसी तरह अपना अपकार (अकल्याण, अहित) कर रहे हैं। इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि भाई, शरीर, कुटुम्ब परिवारआदि अन्य पदार्थोंकी सेवा-उपकार करना छोड़दे,तू अपना उपकार(कल्याण) कर। यानी--शरीरको हृष्ट पुष्ट बनाना छोड़ दे, अपने आत्मा को हृष्ट पुष्ट बनाने के लिये सम्यक्त्व धारण कर, व्रत तप त्याग संयमका आचरण कर, जिससे तेरा दुखमय संसार-भ्रमण सदाकेलिये छूट जावे॥ ३२॥

अथाह शिष्यः, कथं तयोर्विशेष इति केनोपायेन स्वपरयोर्भेदो विज्ञायेत। तद्धि ज्ञातुश्च किं स्यादित्यर्थः। गुरुराह —

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्व-परांतरं ।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥

टीका — यो जानाति । । किं तत्स्वपरान्तरं आत्मपरयोर्भेद यः स्वात्मानं परस्माद्भिन्नं पश्यतीतित्यर्थः। कुतः संवित्तेर्लक्षणात: स्वलक्षणानुभवात् । एषोऽपि कुतः ? अभ्यासात् अभ्यासभावनातः । एषोऽपि गुरूपदेशात् धर्माचार्यस्यात्मनश्च सुदृढ-स्व-पर-विवेक-ज्ञानोत्पादकवाक्यात् स तथान्यापोढस्वात्मानुभविता मोक्षसौख्य निरन्तरमविच्छिन्नमनुभवति । कर्मविविक्तानुभाव्यविनाभावित्वात्तस्य । तथा चोक्तम् (तत्वानुशासने)—

'तमेवानुभवंश्चायमैकाग्र्यं परमृच्छति ।
तथात्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम् ॥ १७० ॥

अब यह बतलाते हैं कि मोक्ष सुखको कौन व्यक्ति जान सकता है—

अन्वयार्थ— (यः) जो मनुष्य (गुरूपदेशात्) आत्म-ज्ञानी गुरू के उपदेश से (अभ्यासात्) आत्मा का अनुभव करने के अभ्यास से (संवित्तेः) अपने आत्मा के ज्ञान से (स्वपरान्तरम्) अपने आत्मा और शरीर आदि अन्य पदार्थों के अन्तर को यानी भेद-भाव को (जानाति) जान लेता है (सः) वह (निरन्तरम्) सदा (मोक्ष-सौख्यं) मोक्ष के सुख को जान लेता है ॥३३॥

भावार्थ—आत्मा ज्ञानदर्शन सुखमय चैतन्य पदार्थ है और शरीर जड़ पदार्थ है । आत्मा जड़ नहीं है और शरीर चेतन नहीं है, इस तत्वको आत्मज्ञानी निर्ग्रन्थ (समस्त परिग्रह परि-त्यागी, संसारकी मोह ममतासे दूर)गुरूसे समझना चाहिये ।

ऐसा करने पर आत्मा और शरीर का भेदभाव मालूम होता है। भेदज्ञान हा जाने पर जो आत्मा को अनुपम संन्तोष-जनक आनन्द आता है। वैसा आनन्द ही मोक्ष (शरीर-तथा संसार छूटजाने) का होता है। उस आत्म-सुखको पाने के लिये किसी खाने पीने आदि इन्द्रिय-संबंधी विषय-भोगों की आवश्यकता नहीं होती, न कोई आकुलता, तृष्णा होती है वह सुख आत्मा का अपने अधीन यानी—स्वतन्त्र होता है।

अथ शिष्यः पृच्छति — कस्तत्र गुरुरिति तत्र मोक्षसुखानुभव-विषये गुरुराह:—

स्वस्मिन्सदाभिलाषत्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः॥३४॥

टीका— यः खलु शिष्यः सदा अभीक्ष्णं कल्याणमभिलषति तेन जिज्ञास्य तदुपायं तं ज्ञापयति तत्र चाप्रवर्तमानं तं प्रवर्त्तयति स किल गुरुः प्रसिद्धः। एवं च सत्यात्मनः आत्मैव गुरुः स्यात्। कुत इत्याह—स्वयमात्मना स्वस्मिन्मोक्षसुखाभिलाषिण्यात्मनि सत् प्रशस्तं मोक्षसुखमभीक्ष्णमभिलषति। मोक्षसुखं मे संपद्यतामित्याकांक्षतीत्येवं भ्रमात्। तथाभीष्टस्यात्मना जिज्ञास्यमानस्य मोक्षसुखोपायस्यात्मविषये ज्ञापकत्वादेष मोक्षसुखोपायो मया सेव्य इति बोधकत्वात्। तथा हि तं मोक्षसुखोपाये स्वयं स्वस्य प्रयोक्तृत्वात्। अस्मिन् सुदुर्लभे मोक्षसुखोपाये दुरात्मन्नात्मन्स्वयमद्यापि न प्रवृत्तः इति। तत्रावर्तमानस्यात्मनः प्रवर्त्तकत्वात्।

अब आचार्य कहते हैं कि इस आत्माका गुरु स्वयं अपना आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं है—

अन्वयार्थ--(स्वस्मिन्) अपने आत्मा में (अभिलाषित्वात्)रमण करने का इच्छुक होने से (अभीष्टज्ञापकत्वतः) अपने परम प्रिय पदार्थ—आतमाका जाननेवाला या जनानेवाला होनेसे(स्वयं)अपने आप(हित-प्रयोक्तृत्वात् अपने हितका प्रयोग—उपयोग करनेवाला होनेसे (आत्मा एव) अपना आत्मा ही (आत्मनः)अपना (गुरुः) गुरु-सिखाने वाला-शिक्षक है ।

भावार्थ—शिक्षा देने वालेको गुरु कहते हैं। प्रत्येक आत्मा ज्ञानमय (ज्ञान से लबालब भराहुआ) होता है। गुरु उस आत्मामें भरे हुए ज्ञानके भंडारको बता देता है। परन्तु अपने आत्मामें भरे हुए उस ज्ञान का या सुख का अनुभव या उपयोग तो आत्माको स्वयं (खुद) करना पडता है। जब तक आत्मा स्वयं अपने ज्ञान का उपयोग न करे तब तक कोई अन्य मनुष्य उसे ज्ञानी नहीं बना सकता, इस तरह यह आत्मा अपना गुरु स्वयं आप बनता है, तब ही इस आत्मा को आत्म-ज्ञान होता है। कोई भी गुरु, अध्यापक, मास्टर अपना ज्ञान किसी शिष्य या विद्यार्थीको नहीं देता, यदि ऐसा होता तो उस गुरु या अध्यापकका ज्ञान कम होता जाता, सो ऐसा कभी होता नहीं। इस लिये ज्ञान आत्माका गुण है। वह अपने आत्मा से ही प्रगट होता है। जैसे पदार्थों को झलकाने की शक्ति दर्पण में स्वयं होती है उसके ऊपर का मैल हटाने से वह चमक दर्पणमें अपने आप निकल आती है,

इसी प्रकार ज्ञानके ऊपर से ज्ञानावरणका पर्दा स्वयं हटानेसे ज्ञान अपने आत्मामें स्वयं प्रगट होता है। यानी--यह आत्मा अपना गुरु स्वयं आप है ॥ ३४ ॥

अथ शिष्यः साक्षेपमाह। एवं नान्योपास्तिः प्राप्नोतीति भगवन्नुक्तनीत्या परम्परगुरुत्वे निश्चिते सति धर्माचार्यादिसेवनं प्राप्नोति मुमुक्षुं। मुमुक्षुणा धर्माचार्यादिः सेव्यो न भवतीति भावः। न चैवमेतदिति वाच्यमपसिद्धांतप्रसंगादिति वदन्तं प्रत्याह:—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

टीका—भद्र! अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽभव्यादिर्विज्ञत्वं तत्त्वज्ञत्वं धर्माचार्याद्युपदेशसहस्रेणापि न गच्छति तथा चोक्तम्—

'स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रियागुणमपेक्ष्यते।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते बकः॥

तथा विज्ञस्तत्त्वज्ञानपरिणतो अज्ञत्वं तत्त्वज्ञानात्परिभ्रंशमुपायसहस्रेणापि न गच्छति। तथा चोक्तम्।

वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोके मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलन्ति योगात्।
बोध-प्रदीप-हत-मोहमहांधकाराः सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥'

नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोतीत्यत्राह अन्यः पुनर्गुरुविपक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्पादभ्रंशयोर्निमित्तमात्रं स्यात्तत्र योग्यतया एव साक्षात्साधकत्वात्।

कस्याः को यथेत्यत्राह गतेरित्यादि। अयमर्थो यथा युगपद्भाविगतिपरिणामोन्मुखानां भावानां स्वकीया गतिशक्तिरेव गतेः साक्षाज्जनिका तद्वैकल्ये तस्या केनापि कर्तुमशक्यत्वात्। धर्मास्तिकायस्तु गत्युपग्रा-

द्रव्यविशेषस्तस्याः सहकारिकारणमात्रं स्यादेवं प्रकृतेऽपि अतो व्यवहारादेव गुर्वादेः शुश्रूषा प्रतिपत्तव्या ।

शिष्य पूछता है कि यदि आत्मा अपना गुरु आप ही है तो अध्यापक गुरू से शिक्षा ग्रहण करना व्यर्थ है ? आचार्य इसका समाधान करते हैं—

अन्वयार्थ--(अज्ञः) अज्ञानी यानी-मिथ्यादृष्टि या मन्द ज्ञानी (विज्ञत्वं) किसी दूसरे गुरु आदि से विज्ञता—ज्ञान (न आयाति) नहीं पा लेता और (विज्ञः) विद्वान् (अज्ञत्वं) अज्ञानता (नऋच्छति) नहीं पा लेता (अन्यः) अन्य अध्यापक गुरु आदि (तु) तो (गतेः) चलनेमें (धर्मास्तिकायवत्) धर्म द्रव्यकी तरह (निमित्तमात्रम्) केवल सहायक होता है ।

भावार्थ–जैसे पानी में रहने वाली मछली पानी में अपनी इच्छा से तथा अपनी शक्ति से अपने आप इधर उधर चला फिरा करती है, पानी उसे चलने फिरने में सहायता करता है-यानी पानी न हो तो सूखी पृथ्वी पर मछली नहीं चल सकती, इस तरह उदासीन रूपसे धर्म द्रव्य भी चलने वाले जीवों को तथा पुद्गलोंके एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुचने में सहायता करता है, उन्हें जबरदस्ती चलाता नहीं है किन्तु इतना अवश्य है कि धर्मद्रव्य न हो तो कोई जीव या पुद्गल चल नहीं सकता, जैसा कि अलोकाकाश में धर्मद्रव्य नहीं है तो सर्व कर्मबन्धन से छुटे हुए स्वतंत्र मुक्त जीव भी अलोकाकाश में रंचमात्र भी नहीं जा पाते ।

इसी तरह गुरु या शिक्षक अपना ज्ञान देकर दूसरे को

ज्ञानी नहीं बन। सकता यदि ऐसा करे तो वह अपना ज्ञान देकर स्वयं(खुद)अज्ञानी बन जायगा। हां वह अपने शिष्यका सोया हुआ(निर्बल)ज्ञान जगाने में सहायता करता है। यदि उस विद्यार्थी के ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता है तो वह अपने गुरु अध्यापक के निमित्त से--सहायता से विद्वान--विशेष ज्ञानवान बन जाता है। यदि विद्यार्थी के ज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षयोपशम नहीं होता तो उस अज्ञानी विद्यार्थी को वह शिक्षक गुरु विद्वान नहीं बना सकता। जैसे तोते को तो मनुष्यकी बोली सिखाई जा सकती है किन्तु बगुलेको वैसा बोलना नहीं सिखाया जा सकता।

अज्ञानी अभव्य जीव कभी किसी तरह ज्ञानी (सम्यक्ज्ञानी) नहीं बन सकता और क्षायिक सम्यक्त्वधारी भव्य जीव कभी अज्ञानी (मिथ्याज्ञानी) नहीं बन सकता। अतः आत्मा में ज्ञानी या अज्ञानी बनने की उपादान शक्ति स्वयं होती है। गुरु या अध्यापक तो शिष्य को ज्ञानी बनाने में निमित्त कारण होते हैं। ॥३५॥

अथाह शिष्यः। अभ्यासः कथमिति, अभ्यासप्रयोगोपायप्रश्नोऽयं। अभ्यासः कथ्यत इति क्वचित् पाठः। तत्राभ्यासः स्यात् भूयोभूयः प्रवृत्तिलक्षणत्वेन सुप्रसिद्धत्वात्तस्य स्थाननियमादिरूपेणोपदेशः क्रियत इत्यर्थः। एवं संवित्तिरुच्यत इत्युत्तरपातनिकाया अपि व्याख्यानमेतत्पाठापेक्षया द्रष्टव्यम्।

तथा च गुरोरेवैते वाक्ये व्याख्येये। शिष्यबोधार्थं गुरुराह—

अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्वसंस्थितिः ।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्वं निजात्मनः ॥३६॥

टीका—अभ्यस्येद्भावयेत्कोसौ, योगी संयमी । किं ? तत्त्वं याथात्म्यं । कस्य निजात्मनः । केन ? अभियोगेन आलस्यनिद्रादिनिरासेन ? क्व ? एकांते योग्यशून्यगृहादौ । किं विशिष्टःसन्—? अभवन्नजायमानश्चित्तस्य मनसो विक्षेपो रागादिसंक्षोभो यस्य सोऽयमित्थंभूतः सन् । किं भूतो भूत्वा ? तथाभूत इत्याह । तत्वसंस्थितस्तत्त्वे हेये उपादेये च गुरूपदेशान्निश्चलधीः यदि वा तत्त्वन साध्ये वस्तुनि सम्यक् स्थितो यथोक्तकायोत्सर्गादिना व्यवस्थितः ।

अब ध्यान करने की योग्यता तथा ध्यान करने योग्य स्थानको आचार्य बतलाते हैं—

अन्वयार्थ–(अभवच्चित्तविक्षेपः) जिसके चित्तमें राग द्वेष आदि का क्षोभ नहीं है तथा (तत्त्वं-संस्थितिः) हेय तथा उपादेय तत्व विचारमें जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसा (योगी) आत्मध्यानी मुनि (एकान्ते) अकेले निर्जन स्थानमें (अभियोगेन) आलस्य, तथा निद्रा त्यागकर सावधानीसे (निजात्मनः) अपने आत्मा के (तत्वं) शुद्ध स्वरूपके चिन्तनका (अभ्यस्येत्) अभ्यास करे ।

भावार्थ–आत्मध्यान के लिये आवश्यक है कि हेय (त्यागने योग्य बातों) का तथा उपादेय (ग्रहण करने योग्य बातों या पदार्थों) का ज्ञान हो, मन में क्षोभ करने वाले कषाय भावोंकी मन्दता हो तथा निर्जन एकान्त स्थान हो । यदि हेय

उपादेय का ज्ञान न हो तो आत्म-स्वरूप जाने विना आत्मा का चिन्तन में रुचि हो न हो सकेगा। तथा यदि राग द्वेष भाव तीव्र हों तो ध्यान करने योग्य चित्त में शान्ति नहीं आ सकती,मन लुब्ध-व्याकुल बना रहेगा। एवं यदि एकान्त स्थान न हो तो बच्चों, स्त्रियों पुरुषों पशु पक्षियों के कोलाहल को सुनकर, चित्त में उद्वेग करने वाले शब्द सुनकर आत्म-चिन्तवन से मन विचलित हो सकता है। अतः शान्तचित्त तत्ववेत्ता मुनि को एकान्त में आत्मध्यान करने का अभ्यास करना चाहिये। ॥३६॥

अथाह शिष्यः संवित्तिरिति अभ्यासः कथमित्यनुवर्तते नायमर्थः संयम्यते। भगवन् ! उक्तलक्षणसंवित्तिः प्रवर्तमाना केनोपायेन योगिनो विज्ञायते कथं च प्रतिक्षणं प्रकर्षमापद्यते। अत्राचार्यो वक्ति। उच्यत इति। धीमन्नाकर्णय वर्ण्यते तल्लिंगं तावन्मयेत्यर्थः।

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥

टीका —येन येन प्रकारेण संवित्तौ विशुद्धात्मस्वरूपं सांमुख्येनागच्छति योगिनः तथा तथानायासलभ्या अपि रम्येंद्रियार्था भोग्यबुद्धिं नोत्पादयन्ति। महासुखलब्धावल्पसुखकारणानां लोकेऽप्यनादरणीयत्वदर्शनात्। तथा चोक्तम् —

"शमसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
स्थलमपि दहति झषाणां किमंग पुनरंगमंगाराः ॥ १ ॥"

अब यह बतयाते हैं कि आत्म-अनुभवी का उपयोग विषयभोगों से हटता जाता है—

अन्वयार्थ– (यथा यथा)जैसे जैसे (संवित्तौ) ज्ञानमें (उत्तमं तत्वं)उत्तमशुद्ध आत्मतत्व (समायाति)आता जाता है (तथा तथा) वैसे वैसे (सुलभा अपि) सुलभता से प्राप्त हुए भी (विषयाः) पांचों इन्द्रियों के विषय-भोग (न रोचन्ते) रुचते नहीं हैं–अच्छे प्रतीत नहीं होते हैं।

भावार्थ–मन में जो बात अपना हित करने वाली जम जाती है आत्मा की लगन उसी ओर लग जाती है, फिर आत्मा का उपयोग दूसरी ओरसे हटकर उसी ओर लग जाता है। तदनुसार आत्मा की समझ में जब अपना शुद्ध स्वरूप रुचिकर बन जाता है तब आत्माकी रुचि शरीरकी सेवा करने की ओर से तथा इन्द्रियों की तृष्णा बुझाने वाले सांसारिक विषय भोगों की ओर हटकर आत्म-अनुभवकी ओर अग्रसर हो जाती है, उस समय उसको इन्द्रियोंके भोग नीरस, निःसार बुरे प्रतीत होने लगते हैं ॥ ३७ ॥

अतो विषयारुचिरेव योगिनः स्वात्मसंवित्तेर्गमिका तदभावे तद्-भावात् प्रकर्षमाणायां च विषयारुचौ स्वात्मसंवित्तिः प्रकृष्यते। तद्यथा—

यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम् ॥३८॥

टीका — अत्रापि पूर्ववद्व्याख्यानं। तथा चोक्तम् (समयसार-कलशायाम्)—

"विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन्पश्य षण्मासमेकं।

हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः ।"

अब आचार्य बतलाते हैं कि शुद्ध आत्मतत्व अपने अनुभव में कब आता है—

अन्वयार्थ–(यथा यथा) जैसे जैसे (सुलभा अपि)पुण्य से मिले हुए सुलभ(विषयाअपि) इन्द्रियों के विषय भी (न रोचन्ते) आत्मा को रुचिकर नहीं होते हैं (तथा तथा) वैसे वैसे (संवित्तौ) अपनी ज्ञान-धारा में (उत्तमं) श्रेष्ठ (तत्त्वं) शुद्ध आत्मा का स्वरूप (समायाति) प्रतिभास होने लगता है।

भावार्थ–इन्द्रियों के विषय भोग आत्मा में खुजली की तरह सदा आकुलता बढ़ाया करते है, उनको जितना अधिक भोगा जावे उतनी ही अधिक उन विषयों की लालसा बढ़ती जाती है, आत्मा उनके लिये बेचैन होता जाता है, आत्मा अपने रस-आस्वादसे दूर होता जाता है। जब उन लालसा बढ़ाने वाले इन्द्रिय-विषयों की ओर से रुचि हटाई जाती है, तब अपने आत्मा का परम आनन्द और सुख, सन्तोष,शान्ति उत्पन्न करने वाला आत्मा का अनुभव होने लगता है। उस आत्मा के अनुभव से आत्मा की तृप्ति होती है। जैसे मीठा शीतल स्वच्छ जल पीने से प्यास बुझती है। इन्द्रियोंके विषय भोग प्यास बढ़ाने वाले खारा जल पीने के समान हैं और आत्माका अनुभव मीठा जल पीनेके समान है।

प्रकक्ष्यमाणायां च स्वात्मसंवित्तौ यानि चिन्हानि स्युस्तान्याकर्णय। यथा —

निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपमं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥३९॥

टीका — योगीत्यंतदीपकत्वात् सर्वत्र। योऽज्यः स्वात्मसंवित्तिरसिको ध्याता चराचरं बहिर्वस्तुजातमवश्योऽपेक्षणीयतया हानोपादानबुद्धिविषयत्वाद्रिन्द्रजालिकोपदर्शितसपहारादिपदार्थसार्थसदृशं पश्यति। तथात्मलाभाय स्पृहयति चिदानन्दस्वरूपमात्मानं संवेदयितुमिच्छति। तथा अन्यत्र स्वात्मव्यतिरिक्ते यत्र क्वापि वस्तुनि पूर्वसंस्कारादिवशात्मनो वाक्कायैर्गत्वा व्यावृत्य अनुतप्यते स्वयमेव आः कथं मयेदमनात्मीनमनुष्ठितमिति पश्चात्तापं करोति।

अब बताते हैं कि आत्म-अनुभवी पुरुष का मन जगत में कहीं भी नही लगता है--

अन्वयार्थ—आत्म-अनुभव के समय (निःशेषं) समस्त (जगत्) संसार (इन्द्रजालोपमं) जादूगर के खेल की तरह निःसार (निशामयति) प्रतीत होता है-दिखाई देता है, तब (आत्मलाभाय) अपना शुद्ध आत्म-स्वरुप पाने के लिये(स्पृहयति) अभिलाषा होती है (अन्यत्र) आत्म-अनुभवके सिवाय अन्य किसी बात में (गत्वा) जाकर के मन (अनुतप्यते) सन्तप्त—व्याकुल होता है।

भावार्थ—परम अनन्त सुख तथा शान्ति सन्तोष दाता अपने आत्मा का अनुभव जब आत्मा को आता है तब आत्माको

लुभाने वाला यह पुत्र, मित्र, स्त्री-मय परिवार तथा इन्द्रियों के विविध प्रकार के विषयों से भरा हुआ संसार ऐसा ही धोखा देने वाला असार दिखाई देता है, जैसे कि बाजीगर अपना तमाशा दिखाते समय अपने जादू से बना बना कर रुपयों का, फलों आदिका ढेर दिखा देता है,परन्तु वास्तवमें वह कुछ भी नहीं होता,वह बाजीगर स्वयं दीन दरिद्र भूखा ही रहता है,

जब आत्मा को अपने अनुभव का स्वाद आता है तब वह उससे हटना नहीं चाहता, यदि कुछ देर के लिये उस ओर से हटता भी है तो उसे बहुत व्याकुलता होने लगती है जैसे मछली को पानी से बाहर जाने पर तड़फड़ाकर – बेचैनी होती है ॥ ३९ ॥

तथा,—

इच्छत्येकान्तसंवासं निर्जनं जनितादरः ।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतं ॥४०॥

टीका— एकान्ते स्वभावतो निर्जने गिरिगहनादौ संवासं गुर्वादिभिः सहावस्थानमभिलषति । किं विशिष्टः सन् ? जनितादरो जनमनोरञ्जनचमत्कारिमंत्रादिप्रयोगवार्त्तानिर्वृत्तौ कृतप्रयत्नः । कस्मै ? निर्जनं जनाभावाय स्वार्थवशाल्लाभालाभादि-प्रश्नार्थं लोकमुपसर्प्यंतं निषेधमित्यर्थः । ध्यानाद्धि लोकचमत्कारिणः प्रत्ययाः स्युः । तथा च उक्तम्, (तत्त्वानुशासने)—

"गुरूपदेशमासाद्य समभ्यस्यन्ननारतं ।
धारणासौष्ठवाद्ध्यानप्रत्ययानपि पश्यति ॥ ८७ ॥

अब ग्रन्थकार बतलाते हैं कि स्वानुभव करने वाले व्यक्तिकी कैसी चेष्टा होती है —

अन्वयार्थ — (निर्जनं) निर्जन स्थान (जनितादरः) जिसे अच्छा प्रतीत होता है ऐसा आत्मा का अनुभव करने वाला पुरुष (एकान्तसंवासं) एकान्तमें रहना (इच्छति) चाहता है। (निजकार्यवशात्) अपने किसी कार्य वश उसे यदि (किंचित्) कुछ (उक्त्वा) कहना भी हो तो, वह कहकरके (द्रुतम्)झट (विस्मरति) उसे भूल जाता है॥ ४० ॥

भावार्थ— आत्मा का स्वाद लेने वाले मनुष्य की रुचि आत्मा की ओर लगी रहती है, इस कारण उसे अन्य स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में रहना अच्छा नहीं लगता है क्योंकि अन्य लोगों के पासमें होनेसे उसका अपने आत्म-अनुभव करने में विघ्न आ जाता है, इस कारण वह ऐसे स्थानमें नहीं रहना चाहता जहां पर कि कोई अन्य स्त्री-पुरुष आदि रहता हो। जिससे उसे किसीसे बात-चीत भी न करनी पड़े, अपने आत्म-चिन्तवन में उसे कोई विघ्न न आ सके। एकान्त स्थानमे रहते हुए भी यदि कभी किसी कारण किसी से कुछ बात-चीत भी करनी पड़े तो वह बात-चीत करके झटपट भूल जाता है कि मैंने किससे क्या बात की थी क्योंकि उसकी लगन आत्माकी ओर लगी रहती है।

तथा स्वस्वावश्यकरणीयभोजनादिपारतन्त्र्यात्किंचिदल्पमसमग्र

श्रावकादिकं प्रति अहो इति अहो इदं कुर्वन्नित्यादि भाषित्वा तत्क्षण एव विस्मरति । भगवन् ! किमादिश्यत इति श्रावकादौ पृच्छति सति न किमप्युत्तरं ददाति तथा—

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति ।
स्थिरीकृतात्मतत्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४१॥

टीका–स्थिरीकृतात्मतत्त्वो दृढप्रतीतिगोचरीकृतस्वस्वरूपो योगी संस्कारवशात्परोपरोधेन ब्रुवन्नपि धर्मादिकं भाषमाणोऽपि न केवलं योगेन तिष्ठति ह्यपि शब्दार्थः । न ब्रूते हि न भाषत एव । तत्राभिमुख्याभावात् । उक्तं च (समाधितन्त्रे)

"आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५० ॥"

तथा भोजनार्थं व्रजन्नपि न व्रजत्यपि । तथा सिद्धप्रतिमादिकमवलोकयन्नपि नावलोकयत्येव । तुरेवार्थः ।

ग्रन्थकार आत्म-अनुभवी पुरुष की चेष्टा पर और अधीक प्रकाश डालते हैं-

अन्वयार्थ– (स्थिरीकृतात्मतत्वःतु) आत्मतत्व में रुचि से स्थिर रहने वाला सम्यग्दृष्टि तो (ब्रुवन् अपि) बोलता हुआ भी (न ब्रूते) नहीं बोलता है, (गच्छन् अपि)चलता हुआ भी (न गच्छति) नहीं चलता है, (पश्यन् अपि) बाहरी चीजों को देखता हुआ भी (न पश्यति) कुछ नहीं देखता ॥४१॥

भावार्थ–आत्मा का रस लेने वाला आत्म-अनुभवी पुरुष

यदि किसी मनुष्य से कारण-वश कुछ बोलता भी है तो वेमना होकर, न बोलने के समान ही बोलता है, इस कारण उसका बोलना भी न बोलने के समान है। यदि उसे कहीं जाना पड़ता है तो वहां भी आत्माकी धुनमें उसका मन ऐसा लगा रहता है कि उसे उस चलने फिरने का भी खयाल नहीं होता और यदि वह कुछ देखता भी है तो उधर उसकी रुचि नहीं होती इस लिये उसका वह देखना भी, न देखने जैसा होता है। यानी उसके सभी संसारी काम बेमन से (बिना मन लगाये) होते हैं अतः उसका सब काम न-करने या न होने-जैसे हैं ॥४१॥

तथा—

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन् ।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥ ४२ ॥

टीका—इदमध्यात्ममनुभूयमानं तत्त्वं किं किंरूपं कीदृशं केन सदृशम् कस्य स्वामिकं कस्मात्कस्य सकाशात्क्व कस्मिन्नस्तीत्यविशेषयन् अविकल्पयन्सन् योगपरायणःसमरसीभावमापन्नो योगी स्वदेहमपि न चेतयति का कथा हिताहितदेहातिरिक्तवस्तुचेतनायाः तथा चोक्तं (तत्त्वानुशासने)—

"तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥ १७२ ॥

उसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य आत्मा में लीन योगी की दशा बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(योगपरायणः) आत्मध्यान में लगा हुआ (योगी) मुनि (इदम्) यह (किम्) क्या है, (कीदृशं)

कैसा है, (कस्य) किसका है, (कस्मात्) किससे-किस कारण से है (चैत्र) और। क्व, कहां है (इति) इस तरह (अविशेषयन्) विशेष विचार न करता हुआ (स्वदेहं अपि) अपने शरीर को भी (न अवैति) नहीं जानता है॥ ४२॥

भावार्थ— जब मुनि आत्म--चिन्तवनमें लीन हो जाते हैं तब उनको अपने शरीर का भी खयाल नहीं रहता कि यह क्या वस्तु है, कैसा है-भूखा है, प्यासा है, सुखी है या दुखी है, यह शरीर मेरा है या किसी औरका है, किसका है, किस कारण से है, कहां है। उनको किसी भी बाहरी बात का, किसी अन्य पदार्थ का भान, अनुभव या परिज्ञान उस समय नहीं होता इसी कारण प्राणघातक महान उपसर्ग या बड़ी भारी परिषह आ जाने पर भी उनका ध्यान आत्मा की ओर से विचलित नहीं होता। क्योंकि किसी सुख दुख आदिका अनुभव तब ही होता है जब कि उस ओर मन लगा हुआ हो॥ ४२॥

अत्राह शिष्यः—कथमेतदिति। भगवन्! विस्मयो मे कथमेतदवस्थान्तरं सम्भवति। गुरुराह—धीमन्निबोध।

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिम्।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति॥ ४३॥

टीका—यो जनो यत्र नगरादौ स्वार्थे सिद्ध्यंगत्वेन बद्धनिर्बन्धवास्तव्यो भवन् तिष्ठति स तस्मिन्नन्यस्मान्निवृत्तचित्तत्वान्निर्वृत्तित्वंलभते। यत्र यश्च तथा निर्वाति स ततोऽन्यत्र न यातीति प्रसिद्धं-

प्रतीतिमतः प्रतीहि योगिनोऽध्यात्मं निवसतोननुभूतापूर्वानंदानुभवादयन्त्र वृत्त्यभावः स्यादिति ।

आत्मध्यानी मुनिकी ऐसी चेष्टा क्यों हो जाती है ? इस प्रश्नके उत्तरमें ग्रंथकार कहते हैं —

अन्वयार्थ—(यः) जो जीव (यत्र) जहां पर (निवसन्-आस्ते) रहता है (सः) वह (तत्र) उस स्थान पर(रतिम्) प्रीति (कुरुते) करता है और(यः)जो जीव(यत्र) जहां(रमते) रम जाता है (सः) वह (तस्मात्) उस स्थान से (अन्यत्र) अन्य कहीं (न) नहीं (गच्छति) जाता है ॥४३॥

भावार्थ—यह एक स्वाभाविक बात है कि जो प्राणी जिस स्थान पर रहता है उसको उस स्थान से प्रेम हो जाता है। जो जिस स्थान पर रमगया वह उस स्थानको छोड़कर कहीं अन्य स्थान पर नहीं जाना चाहता, विषय भोगाभिलाषी मनुष्योंको गृहस्थाश्रममें रहना रुचिकर दीखता है, सो वे गृहस्थाश्रममें मग्न रह जाते हैं, उन्हें गृहस्थाश्रम छोड़ना कठिन दिखाई देता है। जिनको आत्मासे रुचि है उनको एकान्त शान्त स्थानमें आत्मचिन्तवन करनेमें आनन्द आता है, इसकारण उन्हें घर परिवारमें रहना, सांसारिक बातें कहना सुनना, चलना फिरना सांसारिक स्त्री पुरुषोंसे वार्तालाप करना, तथा अपने शरीरका पालन पोषण रुचिकर नहीं होता,वे सदा आत्मचिन्तनमें लीन रहना चाहते हैं। इस कारण आत्मध्यान करते समय मुनियोंको अपने शरीर का भी ध्यान नहीं रहता ॥४३॥

अन्यत्राप्रवर्तमानश्चेदृक् स्यात् —

आगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्धयते न विमुच्यते ॥ ४४ ॥

टीका—स्वात्मतत्वनिष्ठोऽन्यत्र अगच्छन्नप्रवर्तमानस्तस्य स्वात्मनाऽन्यस्य देहादविशेषाणां सौन्दर्यासौन्दर्यादिधर्माणामनभिज्ञ आभिमुख्येनाप्रतिपत्ता च भवति। अज्ञाततद्विशेषः पुनस्तत्राजायमानरागद्वेषत्वात्कर्मभिर्न बध्यते किं तर्हि विशेषेण व्रताद्यनुष्ठातृभ्योऽतिरेकेण तैर्मुच्यते।

अब, आत्मध्यानी योगीकर्मबन्धन में नहीं पड़ता, कर्मबंधन से छूटता है, इस बात को समझाते हैं—

अन्वयार्थ-- (तद्विशेषाणाम्) उन शरीर आदि पर – पदार्थोंके अच्छे बुरे, सुन्दर, असुन्दर, इष्ट अनिष्ट आदि विशेषणों को (आगच्छन्) न जानता हुआ (अनभिज्ञः) अजानकार (जायते) बन जाता है (च) और (अज्ञाततद्विशेषः) – शरीर आदि पर-पदार्थ की विशेषता न समझने वाला (तु) तो (न बद्धयते) कर्मसे नहीं बन्धता है, (विमुच्यते)कर्मबन्ध से छूट जाता है।

भावार्थ—आत्मध्यानी मुनि शरीर, परिवार तथा संसार के अन्य पदार्थों और विषय भोगोंके विषयमें शुभ अशुभ, सुन्दर असुन्दर, इष्ट अनिष्ट आदि विशेषताओंकी ओर ध्यान नहीं देता। उसको सभी पदार्थ एक समान प्रतीत होते हैं, सुवर्ण मिट्टी, रत्न काच, शत्रु मित्र, राजभवन श्मशान, इन्द्रियोंके

इष्ट और अनिष्ट पदार्थ एक सरीखे जान पड़ते हैं उनमें कुछ विशेषता दिखाई नहीं देतो। इस कारण उनको न तो सोने, रत्न, मित्र, राजभवन तथा इन्द्रियोंके प्रिय विषयोंके साथ राग-भाव होता है और न मिट्टी, काच, शत्रु, श्मशान एवं इन्द्रियों के अप्रिय विषयोंसे द्वेष होता है। इस राग द्वेष-भावके न होने से उनके कर्मबन्ध नहीं होता, बल्कि कर्मों का संवर और निर्जरा होती है॥४४॥

किं च —

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः॥४५॥

टीका—परो देहादिरर्थः पर एव कथंचिदपि तस्यात्मकर्त्तु मशक्यत्वात् यतश्चैवं ततस्तस्मादात्मन्यारोप्यमाणाद्दुःखमेव स्यात्तद्द्वारत्वाद्दुःख-निमित्तानां प्रवृत्तः। तथा आत्मा आत्मैव स्यात्। तस्य कदाचिदपि देहादिरूपत्वानुपादानात्। यतश्चैवं ततस्तस्मात्सुखं स्याद्दुखःनिमित्तानां तस्याविषयत्वात्। यतश्चैवं अतएव महात्मानस्तीर्थंकरादयस्तस्मिन्निमित्तमात्मार्थं कृतोद्यमाः विहिततपोनुष्ठानाभियोगाः संजाताः।

अब यह बतलाते हैं कि आत्मअनुभवी पुरुषको किससे सुख होता है और किससे दुख होता है–

अन्वयार्थ-- (परः) शरीर, धन परिवार आदि अन्य पदार्थ (परः) आत्मा से अन्य हैं (ततः) उस अन्य पदार्थ से (दुखः) दुख होता है। (आत्मा एव)आत्मा ही(आत्मा)

अपना आत्मा है, (ततः) उस आत्मा से (सुखम्) सुख होता है। (अत एव) इसी कारण (महात्मानः) महान पुरुषों ने (तन्निमित्तं) उस आत्मा को प्राप्त करने के लिये (कृतोद्यमाः) प्रयत्न किया था ।

भावार्थ—अपना आत्मा ही अपना रहता है अपने आत्मा के सिवाय जितने माता पिता पुत्र स्त्री मित्र आदि चेतन पदार्थ तथा शरीर धन मकान आदि जड़ पदार्थ हैं उनको चाहे जितना अपनाया जावे परन्तु वे कभी अपने होते ही नहीं। इस लिये उन सभी जड़ चेतन पर-पदार्थों को पाने के लिये जितना भी परिश्रम किया जाता है वह दुखदायक ही रहता है। अपना आत्मा ही अपना बना रहता है उसको पाने के लिये-उसका अनुभव करने के लिये जो उद्यम किया जाता है उससे बड़ा सन्तोष और आनन्द मिलता है। इसी कारण तीर्थङ्कर आदिने अपने आत्माको पर-पदार्थों (कर्म-शरीरआदि)से अलग करके प्राप्त करनेका परिश्रम किया था तब ही वे मुक्त होकर अनन्तसुखी बन गये ॥४५॥

अथ परद्रव्यानुरागद्वेषं च दर्शयति —

अविद्वान्पुद्गलद्रव्यं योऽभिनंदति तस्य तत्।
न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥४६॥

टीका—यः पुनरविद्वान् हेयोपादेयतत्त्वानभिज्ञः पुद्गलद्रव्यं देहा-

दिकर्माभिनंदति श्रद्धत्ते आत्मात्मीयभावेन प्रतिपद्यते तस्य जंतोर्जीवस्य तत्पुद्गलद्रव्यं चतसृषु नारकादिगतिषु सामीप्यं प्रत्यासत्ति संयोगसंबंधं जातु कदाचिदपि न त्यजति।

अन्य पदार्थ में राग करनेका क्या फल होता है, यह बतलाते हैं-

अन्वयार्थ- (यः) जो (अविद्वान) मूर्ख बहिरात्मा (पुद्गलद्रव्यम्) शरीर आदि पुद्गल द्रव्य को (अभिनन्दति) अपने आत्म रूप से श्रद्धान करता है (तस्य जन्तोः) उस बहिरात्मा प्राणीका (तत्) वह शरीर आदि पुद्गल द्रव्य(जातु) कभी भी (चतुर्गतिषु) मनुष्य, देव, पशु, नरक गतियों में (सामीप्यं) आत्माका साथ (न मुञ्चति) नहीं छोड़ता।

भावार्थ-शरीर आदि पुद्गल पदार्थ आत्मा के हैं नहीं फिर भी मूर्ख बहिरात्मा उस पुद्गल शरीर को आत्मा मान करके अपनाता है तो उस गलत श्रद्धानके कारण बहिरात्मा के पौद्गलिक कर्म या पौद्गलिक औदारिक, वैक्रियिक, कार्माण आदि शरीर चारों गतियों में आत्मा के साथ लगे रहते हैं। आत्मा को जन्म मरण के चक्कर में घुमाते रहते हैं, आत्मा का साथ कभी भी नहीं छोड़ते ॥४६॥

अथाह शिष्यः—स्वरूपपरस्य किं भवतीति सुगमं। गुरुराह—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

टीका- आत्मनोऽनुष्ठानं देहादेर्व्यावर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापनं तत्परस्य व्यवहारात्प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणाद्बहिःस्थितेः बाह्यस्य योगिनो ध्यातु

योगेन स्वात्मध्यानेन हेतुना कश्चिद् वाचागोचरः परमोऽनन्यसम्भवो आनन्दः उत्पद्यते।

अब आत्मध्यान का फल बतलाते हैं–

अन्वयार्थ—(व्यवहारबहिःस्थितेः) व्यवहार-चारित्र से बाहर ठहरे हुए (आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य) आत्मध्यान में लवलीन (योगिनः) मुनि के (योगेन) आत्मध्यान के द्वारा (कश्चित्) कोई अपूर्व (परमानन्दः) परम आनन्द (जायते) उत्पन्न होता है।

भावार्थ–मुनि जब आहार, विहार, शयन, देववन्दना,स्वाध्याय, उपदेश प्रवचन, आदि कार्यों में लगे रहते हैं तब तक उनके महाव्रत, समिति, आवश्यक दैनिक कर्म रूप व्यवहार चारित्र का आचरण होता है किन्तु वे जब अपने आत्मध्यान में लीन होते हैं उस समय उनके व्यवहार चारित्र की क्रियाऐं नहीं होती हैं। आत्मध्यान करते समय अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूपका जो उनको रस-आस्वाद होता है उससे उनको बहुत शान्ति, परम–आल्हाद रूप अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है, अनुपम तृप्ति होती है ॥४७॥

तत्कार्यमुच्यते —

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥

टीका — स पुनरानन्द उद्धं प्रभूतं–कर्मसंततिं निर्दहति । वन्हि-

रिंधनं यथा । किं च असावानंदाविष्टो योगी बहिर्दुःखेषु परीषहोपसर्गक्लेशेषु अचेतनोऽसंवेदनः स्यात्तत एव न खिद्यते न संक्लेशं याति।

आत्मध्यान से प्राप्त हुआ आनन्द योगी मुनि को क्या लाभ पहुंचाता है? अब इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

अन्वयार्थ– (आनन्दः) आत्मध्यान का आनन्द (अनारतम्) निरन्तर (उद्धं) बहुत से (कर्मेन्धनम्) कर्म-रूपी ईंधन को (दहति) जलाता है। (बहिर्दुःखेष्वचेतनः) परिषह या उपसर्ग-जन्य शरीर के बाहरी दुखसे अनभिज्ञ–अनुभव न करने वाला (असौ योगी) वह आत्म-ध्यानी मुनि (न खिद्यते) खेद खिन्न–दुखी नहीं होता।

भावार्थ–आत्मा का उपयोग जिस ओर लगता है, उस विषयका अनुभव आत्माको हुआ करता है। मुनि जब बाहरी उपयोग को छोड़कर अपने शुद्ध स्वरूप के चिन्तवनमें लीन हो जाते हैं, उस समय यदि किसी परिषह से या किसी उपसर्ग से उनके शरीर को थोड़ा या बहुत कष्ट भी हो तो उस आत्म-ध्यानी मुनि को उसका भान नहीं होता। वह तो उस समय अपने आत्मरस का आनन्द लेने में निमग्न रहता है। मुनि का वह निर्मल आनन्द, रागद्वेष के अभाव के कारण उसके बहुत से कर्मों की निर्जरा कर डालता है ॥४८॥

यस्मादेवं तस्मात् —

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४९॥

टीका—सदानन्दस्वभावं ज्ञानमयं स्वार्थावभासात्मकं परमुत्कृष्टम-विद्याभिदुरं विभ्रमच्छेदकं महत् विपुलं इन्द्रादीनां पूज्यं वा ज्योतिः प्रष्टव्यं मुमुक्षुभिर्गुर्वादिभ्योऽनुयोक्तव्यं । तथा तदेव एष्टव्यं अभिलषणीयं तदेव च द्रष्टव्यमनुभवनीयं। एव व्युत्पाद्य विस्तरतो व्युत्पाद्य उक्तार्थतत्त्वं परमकरुणया संगृह्य तन्मनसि संस्थापयितुकामः सूरिरिदमाह—

अब चाचार्य बतलाते हैं कि मुक्ति-इच्छुक-मुमुक्षुको क्या करना चाहिये-

अन्वयार्थ- (अभेद्यभिदुरं) महान अज्ञान अन्धकारको नष्ट करने वाली (परं ज्योतिः) आत्मा की उत्कृष्ट ज्योति यानी-प्रकाश (महत् ज्ञानमयं)महान ज्ञान रूप है । (मुमुक्षुभिः) मोक्ष-अभिलाषी पुरुषोंको (तत् प्रष्टव्यं)उस आत्म-ज्योतिके विषयमें ज्ञानियोंसे पूछना चाहिये, (तत् एष्टव्यं) उस आत्म-ज्योतिको ढूंढने के लिये या पानेके लिये प्रयत्न करना चहिये और (तद् द्रष्टव्यं) उस आत्म ज्याति का दर्शन करना चाहीये ।

भावार्थ—अनादि काल का अज्ञान-अन्धकार आत्मा पर छाया हुआ है इसीकारण आत्मा अपने आपको भी नहीं देख पाता । उस अज्ञान-अन्धकारको आत्माकी ज्ञानमयी परम ज्योति ही नष्ट किया करती है । जो मनुष्य संसारसे मुक्त होना चाहते हैं उनको उस आत्म-ज्योतिका स्वरूप ज्ञानियोंसे जानना चाहिये, उस ज्योतिको पानेके लिये उपाय करना चाहिये,उस

आत्मज्योति का दर्शन करना चाहिये ॥४६॥

किं बहुनेति ? हे सुमते ! किं कार्थं बहुनोक्तेन. हेयोपादेयतत्त्वयोः संक्षेपेणापि प्राज्ञचेतसि निवेशयितुं शक्यत्वादिति भावः ।

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः ।
यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥५०

टीका— जीवो देहादेर्भिन्नो देहादिश्च जीवाद्भिन्न इतीयानेव असौ विधीयते आत्मनस्तत्त्वस्य भूतार्थस्य संग्रहः सामस्त्येन ग्रहणं निर्णयः स्यात् । यत्पुनरितस्तत्त्वसंग्रहादन्यदतिरिक्तं किंचिद्भेदप्रभेदादिकं विस्तररुचिशिष्यापेक्षयाचार्यैरुच्यते । स तस्यैव विस्तरो व्यासोऽस्तु तमपि वयमभिनंदाम इति भावः ।

अब ग्रन्थ का निष्कर्ष यानी सार निचोड़ निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ– (जीवः) आत्मा (अन्यः) अन्य है (च) और (पुद्गलः) शरीर आदि पुद्गल द्रव्य (अन्यः) अन्य-पृथक है, (इति) इस प्रकार (असौ) यह (तत्वसंग्रहः) आत्म तत्व का संक्षिप्त सार है। (यत् अन्यत् किंचित्) जो कुछ अन्य बात इस विषय में (उच्यते) कही जाती है, (सः) वह वर्णन (तस्य एव) उस ही संक्षेप सार का (विस्तरःअस्तु) विस्तार कथन है

भावार्थ—आत्मा-चैतन्यमय अमूर्तिक अविनाशी द्रव्य अलग है, और शरीर मूर्तिक विनाशीक जड़द्रव्य आत्मासे भिन्न द्रव्य है, यह आध्यात्मिक तत्वका सारांश है। आध्या-

त्मिक विषयमें और जो कुछ भी कहा जाता है वह इसी सारांश का विशेष विस्तृत वर्णन है। इस कारण मोक्ष-अभिलाषी भव्य जीवको आत्मा और शरीरका भेदमात्र जानकर अपने आत्मा में रुचि करनी चाहिये, शरीरको तुष्टि पुष्टि सेवासे उदासीन रहना चाहिये।

आचार्यः शास्त्राध्ययनस्य साक्षात्पारं पर्येण च फलं प्रतिपादयति—

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्,
मानापमानसमतां स्वमताद् वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा,
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥५१॥

टीका—इत्यनेन प्रकारेण इष्टोपदेशं, इष्टं सुखं तत्कारणत्वान्मोक्षस्तदुपायत्वाच्च स्वात्मध्यानं उपदिश्यते यथावत्प्रतिपाद्यते अनेनास्मिन्निति वा इष्टोपदेशो नाम ग्रन्थस्तं सम्यग् व्यवहारनिश्चयाभ्यामधीत्य पठित्वा चिंतयित्वा च धीमान् हिताहितपरीक्षादक्षो भव्योऽनन्तज्ञानाद्याविर्भावयोग्यो जीवः मुक्तिश्रियमनंतज्ञानादिसंम्पदं निरुपमामनौपम्यां प्राप्नोति। किं कुर्वन्? मुक्ताग्रहो वर्जितवहिरर्थाभिनिवेशः सन् सजने ग्रामादौ वने वाऽरण्ये विनिवसन् विधिपूर्वकं तिष्ठन्। किं कृत्वा? वितन्य विशेषेण विस्तार्य। कां? माने महत्त्वाधाने अपमाने च महत्त्वखण्डने समतां रागद्वेषयोरभावं। कस्माद्धेतोः? स्वमतात् इष्टोपदेशाध्ययनचिंतनजनितादात्मज्ञानात्। उक्तं च (समाधितन्त्रे)—

"यदा मोहात्प्रजायेते राग-द्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं साम्यतः क्षणात्"॥ इति श्रेयः।

अब ग्रन्थको समाप्त करते हुए ग्रंथकार आचार्य पूज्यपाद स्वामी

प्रेरणा करते है —

अन्वयार्थ—(धीमान् भव्यः) बुद्धिमान भव्यपुरुष (इति) इस प्रकार (इष्टोपदेशं) इष्टोपदेशग्रंथको (सम्यक् अधीत्य) अच्छीतरह अध्ययन कर के (स्वमतात्) अपने मन्तव्यसे (मानापमानसमतां) सन्मान और अपमानके समताभावको (वितन्य) फैलाकरके, (मुक्ताग्रहः) एकान्त मान्यतारूप आग्रहको त्यागता हुआ (सजने) गांव आदिमें (वा)अथवा (वने) निर्जन वनमें (निवसन्) रहता हुआ (निरुपमां) अनुपम (मुक्तिश्रियम्) मुक्ति लक्ष्मीको (उपयाति)प्राप्त करता है।

भावार्थ—इस इष्टोपदेश ग्रन्थमें आत्मा और शरीरका, व्रत-पालनका, अव्रतका फल, बन्ध और मुक्तिका साधन,वैराग्य उत्पन्न करनेकी प्रक्रिया, आत्म-अनुभव करनेका उपाय तथा आत्म-अनुभव करनेका फल आदि आध्यात्मिक विषय अच्छे सुन्दर सरल रोचक ढंगसे श्रीपूज्यपाद आचार्यने निश्चय और व्यवहारनयको दृष्टिमें रखकर बतलाया है। पचास श्लोकोंमें महान अध्यात्मसार भर दिया है। जो भव्य जीव इसका अच्छा स्वाध्याय करके नयोंकी मध्यस्थ भावना बनाता है उसको अपने सन्मान और अपमानमें हर्ष विषाद नहीं होता॥ वह चाहे किसी गांव आदि वस्तीमें रहे अथवा एकान्त वनमें निवास करे, वह अपने आत्मचिन्तन और विषयभोगोंकी विरक्ति

से आत्माकी शुद्धि करता हुआ कालान्तरमें संसारसे मुक्त हो जाता है।

टीका–प्रशस्तिः

विनेयेन्दुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना ।
इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता ॥ १ ॥

उपशम इव मूर्तः सागरेन्दोर्मुनीन्द्रादजनि विनयचंद्रः सच्चकोरैकचंद्रः ।
जगदमृतसगर्भःशास्त्रसंदर्भगर्भः शुचिचरितवरिष्णोर्यस्य धिन्वंति वाचः

जयन्ति जगतीवन्द्या श्रीमन्नेमिजिनांह्रयः ।
रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहंति यदाश्रिताः ॥ ३ ॥

इति श्रीपूज्यपादस्वामिविरचितः इष्टोपदेशः समाप्तः ॥

श्री पूज्यपाद आचार्य विरचित
इष्टोपदेशग्रन्थ
समाप्त हुआ।





श्री वीतरागाय नमः

दो संस्कृतटीकाओं तथा हिन्दी टीकासहित

श्री अकलंकदेव विरचित

स्वरूपसंबोधन

—:)—(:—

मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना ।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमामि तम् ॥१॥

श्री पं० खूबचन्द्र शास्त्री-कृत टीका—

अन्वयः—अहं ग्रंथकर्ता भट्टाकलंकदेवः इति शेषः, तम् अक्षयम्, न विद्यते नाभूत् न भविष्यति क्षयो विनाशो यस्य सः तम्, तथा ज्ञानमूर्तिं—ज्ञानमेव मूर्तिराकृतिर्यस्य सः तम्, परमात्मानं—परमश्चासौ आत्मा च परमात्मा तम्, अथवा परम् उत्कृष्टम् आत्मानम् । परा—सर्वोत्कृष्टपदं प्राप्ता मा केवलज्ञानादिरूपा

अन्तरंगलक्ष्मीः तथा समवसरणादिभूतिरूपा बाह्या श्रीः यस्य स भवति परमः स चासौ आत्मा च तम्। अर्हद्भट्टारकम्, सिद्धपरमेष्ठिनम् वा, नमामि-नमस्कुर्वे। आराध्यत्वेन साध्यत्वेन तस्य परमात्मनः, तत्पुरस्तात् अहं अन्तरात्मा आत्मानं नीचैः करोमि। निश्चयव्यवहाररूपेण वा तत्पदाभिलाषित्वात् प्रणमनपरो भवामीत्यर्थः।

तम् कम्? इति पूर्वार्धेन उत्तरयति—

यः कर्मभिः संविदादिना मुक्तामुक्तैकरूपः।

मुक्तश्च अमुक्तश्च मुक्तामुक्तौ, एकम् अखण्डं रूपं यस्य स एकरूपः मुक्तामुक्तौ च एकरूपश्च अथवा मुक्तामुक्तयोरेकरूपः, यथाक्रमालङ्कारयुक्त्या कर्मभिर्मुक्तः मोहक्षयात्संसरणमुक्तः, घातिक्षयादष्टादशदोषमुक्तः सर्वकर्मक्षयाच्छरीरमुक्तश्च भवति। क्लेशकर्मविपाकाशयानां कर्मजन्यत्वात्। अनात्मधर्मत्वाद्वा। संविदादिना-संविद् ज्ञानम् आदिर्यस्य सम्यक्त्ववीर्यादेः तेन अमुक्तः, विधिप्रतिषेधात्मकत्वाद्वस्तुवृत्तेः। एवं सन्नपि एकरूपः अथवा एकरूप इति विशेषणस्यार्थः एवं विधेयः—कर्मभिः मुक्तामुक्तरूपः संसारिणोमुक्ताश्चेति भेदविधानात्। संविदादिना स्वलक्षणेन एकरूपः तस्य सदाप्यपरित्यागात् यद्वा कथंचित् उभयात्मकः, कथंचित् अनुभयात्मक इत्यर्थः। क्रमेण वक्तुं शक्यत्वादुभयात्मकः, मुक्तामुक्तरूपः युगपत् उभयधर्मयोः वक्तुमशक्यत्वात् अनुभयात्मकः, अवक्तव्य इत्यर्थः। एवं च

आत्मा सप्तभंगात्मक इत्युक्तं भवति। ईश्वरो नानादिमुक्तः मुक्तत्वादन्यमुक्तवत् इत्युक्तत्वात्। अत्र कर्मभिर्मुक्तत्वकथने न ईश्वरस्यानादिमुक्तत्वमान्यता निरस्ता सदा कर्मसहित एवात्मा तिष्ठति न कदाचिदपि ततो मुच्यते इत्येकांतश्च वारितः। संसारमोक्षव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः, संविदादिना अमुक्तत्वकथनेन बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदः पुरुषस्य मोक्ष इति आत्मा ज्ञानाद्भिन्न एवेति च पक्षः क्षतो भवति। अक्षयविशेषणेन शून्यवादिता, नैरात्म्यवादिता, क्षणक्षयिवादिता च खण्डिता। ज्ञानमूर्तिविशेषणेन ज्ञानादात्मनः न्यूनाधिकप्रमाणत्वं परास्तम्। आत्मनः परमविशेषणेन बहिरन्तः परमेति दशात्रयसूचनपूर्वकं बहिरात्मनामन्तरात्मदशावत् अन्तरात्मनां परमात्मदशाया आराध्यत्वं प्रतिपादितम्। विरोधाभासालंकारः।

टीकाकारकृतमंगलाचरणम्

शुद्धचैतन्यपिंडाय सिद्धाय सुखसम्पदे।

विमलागमसाराय नमोऽस्तु परमेष्ठिने ॥ १ ॥

श्रीमदकलंकदेव (नामा) समस्त दुर्णयैकान्तनिराकृतदुराग्रहः, समुत्पन्न-परमभेद-विज्ञान-प्रकाशिताशयोऽशेषभव्यजनानां अनेकान्तरूपेण जीवपदार्थप्रतिपादनार्थं स्वरूपसम्बोधन-ग्रन्थस्यादाविष्टदेवनमस्कारं मंगलार्थं कुर्वन्नाह—

टीका—यः कश्चित् परमपदार्थः कर्मभिः ज्ञानावरणादिकर्मभिः संविदादिना सम्यग्ज्ञानादिगुणैः मुक्तामुक्तैकरूपः त्यक्तात्यक्तैकस्वभावः तं आत्मोत्थसुखस्वभावं

अक्षयं अव्ययं ज्ञानमूर्ति केवलज्ञानस्वरूपं परमात्मानं परमात्मपदार्थं नमामि नमस्करोमि । समस्तरागादिविभावरहितकेवलज्ञानादिगुणसमूहसहितपरमात्मपदार्थ एव नमस्कारार्ह इति भावार्थः –

(हिन्दी–टीका)

ग्रन्थकार का मङ्गलाचरण

अन्वयअर्थ—(यः) जो (कर्मभिः संविदादिना) कर्मोंसे तथा सम्यग्ज्ञान आदिसे क्रमशः (मुक्तामुक्तैकरूपः) मुक्त और अमुक्त होता हुआ एक रूप है, (तम्) उस (अक्षयं) अविनाशी (ज्ञानमूर्ति) ज्ञानमूर्ति (परमात्मानं)परमात्माको (नमामि) नमस्कार करता हूं ॥

जो परमात्मा ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मोंसे तथा रागद्वेष आदि भाव कर्मोंसे और नोकर्मो यानी–औदारिक आदि शरीरोंसे एवं उनके फल जन्म, जरा मरण रूप संसार से मुक्त (छूटाहुआ) है किन्तु केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, आदि गुणों से अमुक्त (नहीं छूटा हुआ यानी–उन गुणो से सहित) है, अविनाशी-नित्य है तथा ज्ञानमूर्ति—ज्ञानमय है। उस परमात्मा को मैं (ग्रन्थकार अकलंकदेव) नमस्कार करता हूं।

ग्रन्थकार ने विरोधाभास अलंकारके साथ यह मंगलाचार किया है कि अर्हन्त, सिद्ध परमात्मा मुक्त भी हैं और अमुक्त भी हैं। विरोधका परिहार करते हुए संकेत किया है कि वे कर्मोंसे मुक्त हैं और ज्ञान आदि गुणों से अमुक्त (मुक्त–छूटे हुए नहीं) हैं ॥ १ ॥

मुक्तामुक्तैकरूपत्वेनोक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमनुमापयन्-तल्लक्षणस्वरूप-भेदान् आख्याति –

सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं, क्रमाद्धेतुफलावहः
यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः, स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः

अन्वयः—स अयं सोपयोगः आत्मा अस्ति, कथंभूतः हेतुफलावहः। हेतुश्च फलं च हेतुफले, ते आवहति, आ समंतात् वहति प्राप्नोति धारयति इति हेतुफलावहः। कथ ? क्रमात् क्रमेण अयौगपद्येन। अयं कः ? इत्युत्तरयति, यः ग्राह्यः, ग्रहीतुं योग्यस्वानुभवप्रत्यक्षेण, वेद्यः स्वयं उपयोगरूपलक्षणजन्यव्याहारादिहेतुना परत्रानुमेयश्च निश्चयनयेन शुद्धोपयोगरूपनिर्विकल्पसमाधिना ग्राह्यः साध्य इति वा पुनः कथंभूतः ? अग्राही, आत्मेतरद्रव्यगुणपर्यायान् न गृह्णाति-कदाचिदपि आत्मसात् न करोतीत्यग्राही। यद्वा प्रागभाव-रूपानुत्तरपर्यायान् ग्रहीतुं योग्य इति ग्राह्यः प्रध्वंसाभाव-रूपान् पूर्वपर्यायान् न कदाचिदपि गृह्णातीति अग्राही। पुनः कथंभूतः ? अनाद्यन्तः, आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ न आद्यन्तौ यस्य स अनाद्यन्तः, आत्मनः, सल्लक्षणद्रव्यत्वात् असतः सर्वथा उत्पादाभावात्, सतो निरन्वयविनाशाभावात् अभावस्य भावात्मकत्वप्रतिपादनेन तुच्छाभावत्वस्य सर्वथा-प्यमान्यत्वात्। च पुनः कथंभूतः ? स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः। स्थितिर्ध्रौव्यम्, उत्पत्ति र्जन्यत्वम्, व्ययो विनाशः इति स्थित्युत्पत्तिव्यया एव आत्मा स्वरूपं यस्य सः।

अत्र आत्मद्रव्यस्य सिद्धौ लक्षणत्रयं प्रतिपादितम्। सोप-

योग इति हेत्वर्थगर्भितविशेषणे सल्लक्षणमसाधारणद्रव्यत्वं च साधितम् यः सोपयोगः स आत्मा इति सोपयोगपदेन गुण-वत्त्वं, क्रमाद्धेतुफलावह इतिपदेन पर्ययवत्त्वं च निर्दिश्य गुणपर्ययवल्लक्षणं सूचितं। स्थित्युत्पात्तव्ययात्मकत्वकथनेन "उत्पाद दव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति च लक्षणं निरूपितम्।

हेतुशब्देन कारणसमयसारता, फलशब्देन कार्यसमयसा-रता इत्युपयोगस्य क्रमभाव्यवस्था-द्वयं अथवा द्रव्यस्य गुण-पर्यायात्मकत्वात् कार्यकारणात्मकता च सूच्यते।

यद्वा हेतुशब्देन आस्रवसंवरनिर्जरातत्त्वरूपता फलशब्देन बंधमोक्षरूपता चाभिव्यज्यते। उपरि मंगलपद्ये कर्मभिर्मुक्त-त्वकथनेन बन्धमोक्षव्यवस्थायाः स्वयमूह्यत्वात्। इत्यात्मनः कथंचित् सप्ततत्त्वात्मकत्वं प्रतिपादितं भवति

(उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत ५-३० गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ५-३८। सद्द्रव्यलक्षणम् ६-२९ —तत्त्वार्थसूत्र)

यः अग्राह्य इति वा विश्लिष्य अग्राह्यः अग्राही इति विशेषणद्वयेन –

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥ ५४॥

इति गाथार्थः प्रतिपादितो भवति। तत्र अग्राह्य इति विशे-षणेन इन्द्रियलिंगादिभिर्ग्रहणयोग्यो न भवतीत्यर्थं कृत्वा अलिं-गग्रहणपदोक्तविंशत्यर्थाः समुच्चेयाः, ग्राही-विशेषणेन तु शेष-

पदानामर्थः संबोध्यः। सोपयोग-विशेषणेन चेतनागुण इति प्रतिपादितः। अत्रानुमानालंकारो जातिरलंकारो विरोधाभासश्च घटनीयः। आत्मा सोपयोग इह उक्तः। उपयोगेन सहितः सोपयोगः [उपयोगस्तु उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणामः]

परमात्मस्वरूपसंसिद्धमभिलषन् ग्रन्थकारः सहजसुखसमुद्रं परमात्मानं प्रणिपत्य पुनः परमतत्वं निरूपयति—

द्वि०टीका—यो यः कश्चित्सोपयोगः ज्ञानदर्शनोपयोगयुक्तः क्रमात् क्रमेण हेतुफलावहः कारणकार्यस्वरूपावहः ग्राह्यग्राही ग्रही स्वपरवस्तुस्वरूपं गृह्णाति जानातीति ग्रही। यद्वा अग्राह्यग्राह्य पाठे च—अग्राह्यग्राहकरूपः इति। अथवा ग्राह्योऽग्राह्य इति पाठोऽपि। सहजज्ञानपरिच्छेद्यो ग्राह्यः क्षयोपशमज्ञानेन अवेद्यत्वाद् अग्राह्यः इत्यर्थः। अयं अनाद्यन्त अनादिनिधनः। स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ध्रौव्योत्पत्तिविनाशरूपः। अयं एष सुखनिधि र्यः स्वरूपयोगादिधर्मघनः। आत्मा निर्विकारचैतन्यस्वभावः। अस्ति विद्यते उपयोगादिलक्षणलक्षितात्मास्ति। तेन परवादिपरिकल्पितात्मस्वरूपं न भवतीति तात्पर्यम् ॥ २ ॥

अब ग्रन्थकार आत्मा का अस्तित्व और उसका लक्षण बतलाते हैं—

अन्वयअर्थ—(यः) जो (सोपयोगः) दर्शन, ज्ञान उपयोग वाला है (क्रमात्) क्रमसे (हेतुफलावहः) कारण और उसके फल न कार्यको धारण करनेवाला है, (ग्राह्यः) ग्रहण करने योग्य है,

(अग्राह्य)अग्राह्य है अथवा (अग्राही) अग्राही यानी ग्रहण करने वाला नहीं है, (अनाद्यनन्तः) अनादि और अनन्त है, (स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः) उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है (सः) वह–प्रसिद्ध (अयं) यह जीवित शरीर में वर्तमान (आत्मा) आत्मा (अस्ति) है। २॥

जग-प्रसिद्ध, यह (जीवितशरीर में वर्तमान) आत्मा दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोग सहित है यानी चैतन्यमय है। अर्थात् जानने देखनेवाला है। क्रमसे कारण और उसके फलका धारण करने वाला है। संसार की अपेक्षा कर्म-आस्रव कारण है, कर्म-बन्ध फल है, उन हेतु फलरूप आस्रव, बन्ध को धारण करने वाला है। मुक्ति की अपेक्षा संवरनिर्जरा हेतु (कारण) है, मोक्ष उसका फल है, इस तरह क्रम से मुक्ति के हेतु (संवरनिर्जरा) को और उसके फल (मोक्ष) को आत्मा धारण करता है। अथवा चौथे गुणस्थानसे बारहवें गुण-स्थान तक यानी–तेरहवें गुण-स्थान से पहलेका आत्मा कारण-समयसार है और तेरहवें गुण-स्थान का आत्मा फलरूप कार्य–समयसार है। या तेरहवां गुणस्थान कारण समयसार तथा चौदहवां गुणस्थान कार्य-समयसार है। तथा च चौदहवां गुणस्थान कारण-समयसार और सिद्ध पर्याय कार्यसमयसार है, इस प्रकार आत्मा कारण, कार्य (हेतु, हेतु-फल) रूप है। वह आत्मा अशुभोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोगी-रूपमें ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) है। किन्तु अशुभोपयोगरूप में अग्राह्य (ग्रहण करने योग्य नहीं) है। शुभोपयोगकी अपेक्षा शुद्धोपयोगी आत्मा ग्राह्य है। तथा स्वानुभवमें आत्मा ग्राह्य है किन्तु शरीरादि अन्य पदार्थों के गुणपर्यायों की अपेक्षा अग्राह्य है। मुक्तात्मना ग्राह्य है, संसारी-आत्मता अग्राह्य है। आत्मा सदा (अनन्तभूतकाल) से है यानी उसका कोई आदिकाल नहीं है, अतः अनादि है और सदा (अनन्तभविष्यकाल तक) रहेगा, अतः आत्मा अनन्त (अन्तरहित)

है एवं आत्मा अनादि अनन्त होते हुए भी प्रतिक्षण आत्मद्रव्य और आत्म-गुणों की नवीन नवीन पर्यायों के उत्पन्न होते रहने से उत्पाद स्वरूप है, प्रतिक्षण आत्मद्रव्य तथा आत्मगुणों की पूर्व पूर्व पर्याय के नष्ट होते रहने से व्यय-रूप है और सामान्य चैतन्यरूप आत्मस्वरूप के नित्य अविनश्वर बने रहने से ध्रौव्य रूप भी है।

इस श्लोकमें ग्रन्थकार ने आत्मा का अस्तित्व, आत्मा का उपयोगमय लक्षण और उसका गुणपर्याय रूप लक्षण तथा आत्मा का उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक लक्षण बतलाया है। एवं अनादि अनन्त स्वरूप बतलाकर उसकी अविनश्वर, अकृत्रिम सत्ता का बोध कराया है तथा विरोधाभास अलंकार से आत्मा का ग्राह्य, अग्राह्य रूप प्रगट किया है।

एवं चायमात्मा केवलचैतन्यगुणात्मक एव ? अन्यगुणात्मकोऽपि वा ? इति प्रश्ने चेतनात्मकत्वेऽप्यात्मनः कथंचिद्धर्मात्मकत्वमन्यधर्मात्मकत्वं सप्तभङ्ग्यात्मकत्वं चास्तीति व्यक्तीकरोति–

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ॥३॥

चन्द्रिका–यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् यत इति। योऽयं। यस्मात् कारणात् स पूर्वोक्त आत्मा परमात्मा वा इति शेषः। कथंभूतः ? अचिदात्मा चित् चैतन्यं न चित् अचित् आत्मा स्वरूपो यस्य सः। चैतन्यस्वरूपो न भवतीत्यर्थः। कैः ? धर्मैः स्वभावैः। किं नामकैः ? प्रमेयत्वादिभिः। प्रमातुं योग्यं प्रमेयं प्रमाण–

रूपेण सम्यग्ज्ञानेन परिच्छेत्तुं योग्यं परिच्छेद्यं वस्तु, तस्य भावः प्रमेयत्वम् तत् आदिर्येषां तैः प्रमेयत्वादिभिः । आदिशब्देन अस्तित्ववस्तुत्वागुरुलघुत्वप्रदेशवत्त्वादयः चैतन्यगुणभिन्नाः सर्वेऽपि सामान्यविशेषात्मका ? गुणाः स्वभावा वा संग्राह्याः । एवं सन्नपि स आत्मा न सर्वथा अचिदेवेति स्पष्टीकर्तुं पुनराह । पुनः कथंभूतः स आत्मा ? चिदात्मकः । चित् चैतन्यम् आत्मा स्वरूपं यस्य सः । चिदात्मा एव चिदात्मकः । स्वार्थे क प्रत्ययविधानात् । कथं ? ज्ञानदर्शनतः । ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने ताभ्यां, हेतौ पंचम्यर्थे तस् । ज्ञानदर्शनरूपोपयोग-परिणामचैतन्यात्मकत्वाद्धेतोः । यत एवं तस्मात् हेतोः स आत्मा परमात्मा वा चेतनाचेतनात्मकः । चेतनश्च अचेतनश्च आत्मा स्वभावो यस्य सः । न सर्वथा चेतन एव, नापि सर्वथा अचेतन एव, किन्तूभयात्मकः ।

वस्तुत्वेनात्मनोऽप्यनन्तगुणधर्मात्मकत्वात् चिदचिदात्मकानन्तगुणधर्मात्मकत्वमिह प्रतिपादितम् । तत्र चैतन्यगुणापेक्षया ज्ञानदर्शनरूपः,तत्परिणामोपयोगापेक्षया वा चिदात्मकत्वमात्मनः, तदितरगुणधर्मापेक्षया तु अचिदात्मकत्वं तस्येत्यर्थः । एतेनाचिदात्मकत्वमेवेति, चेतनात्मकत्वमेवेति चैकान्तपक्षद्वयं निरस्तं । कथं परस्परविरुद्धयोर्धर्मयोरेकत्र संभव इति चेन्न, अनन्तगुणात्मके आत्मनि सदपेक्षया सर्वेषां गुणानां परस्परमभेदेऽपि संज्ञासंख्यालक्षणप्रयोजनाद्यपेक्षया परस्परं

भेदस्याप्यभ्युपगमात न तत्र विरोधः । वध्यघातकसहानवस्थानप्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धक इति त्रिविधस्यापि विरोधस्यात्राघटनात् । एतेन एवं च छलमात्रत्व संशयहेतुत्वं वानेकांतस्य परिहृतं बोद्धव्यम् ।

पुनरप्यात्मद्रव्यस्य नयविवक्षाभेदेन चेतनत्वमावेदयति—

द्वि०टीका—प्रमेयत्वादिभिः प्रमेयत्वं सम्बोधकत्वं द्रव्यत्वं प्रदेशत्वादिकैर्धर्मैः वस्तुस्वभावैरचिदात्मा अचेतनस्वभावः, ज्ञानदर्शनतः ज्ञानदर्शनाभ्यां चिदात्मकः चैतन्यस्वरूपः तस्मात्तेन कारणेन चेतनाचेतनात्मकः चेतनाचेतनस्वभावः । साधारणधर्मो अचेतनत्व, असाधारणधर्मश्चेतनत्वं भवतीति भावार्थः ॥ ३ ॥

अब ग्रन्थकार आत्मा को चेतन तथा अचेतन रूप में व्यक्त करते हैं—

अन्वयार्थ—वह आत्मा (प्रमेयत्वादिभिः) प्रमेयत्व आदि (धर्मैः) धर्मों द्वारा (अचिदात्मा) अचितरूप है, (ज्ञानदर्शनतः) ज्ञान और दर्शनगुणसे (चिदात्मकः) चेतन रूप है । (तस्मात्) इस कारण (चेतनाचेतनात्मकः) चेतन अचेतनरूप है ॥ ३ ॥

भावार्थ—क्योंकि आत्मा या परमात्मा प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व यानी-प्रमाणोंद्वारा जानने योग्य) अस्तित्व, वस्तुत्व, अगरुलघुत्व आदि (ज्ञानदर्शनात्मक चैतन्यके सिवाय) गुणोंकी अपेक्षा अचिदात्मक यानी अचैतन्य रूप है । तथा ज्ञानदर्शनमय होनेसे चिदात्मक है-चैतन्य रूप है । इस कारण आत्मा चिदात्मक भी है और अचिदात्मक भी है ।

इस श्लोकमें श्री अकलंक देवने विरोधाभास अलंकार द्वारा

आत्मा के स्वरूपमें चेतनात्मक अचेतनात्मक रूप परस्पर विरोध दिखलाते हुए युक्तिपूर्वक उसका परिहार भी कर दिया है ॥३॥

उपयोगलक्षणोऽयमात्मा ज्ञानात्सर्वथा भिन्न एव, सर्वथा अभिन्न एवेति वा न भवति तर्हि किं रूपो भवतीति एकान्तमान्यताः परिहरन् तन्लक्षण स्वरूपमनेकान्तदृष्टया सप्तभङ्ग्यात्मकमिति विशेषेण निर्दिशति—

ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथंचन ।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोऽयमात्मेति कीर्तितः ॥ ४॥

चन्द्रिका— इति एवं प्रकारेण इत्थमिति वा कीर्तितः यशस्वितां नीतः- सम्यक्तया कथितः । कः ? अयमात्मा, केन प्रकारेण ? यत् पूर्वापरीभूतं भूतभविष्यत्समस्त—परिच्छेदनपर्यायसमूहरूपं ज्ञानम्, स एवायमात्मेति कथितः कैः ? सर्वज्ञैर्गणधरदेवादिभिर्वेति शेषः । कथंभूतः स आत्मा ज्ञानाद्भिन्नो न, सर्वथा ज्ञानाद्भिन्न एवेति न । आत्मा द्रव्यं ज्ञानं गुणः,द्रव्यगुणयोः सर्वथा भेद एव । समवायसम्बन्धेनात्मा ज्ञानवान् भवतीति वैशेषिकादिमतं न सम्यगित्यर्थः पुनः । कथंभूतः स आत्मा ? च पुनः अपीति वा स आत्मा अभिन्नो न भवति, च शब्दसामर्थ्यात् न शब्दस्योभयत्रापि सम्बन्धो योज्यः । स आत्मा सर्वथा ज्ञानादभिन्नोऽपि न भवतीत्यर्थः । पुनः कथंभूतः स भवति इत्याह-कथंचन भिन्नाभिन्नः । कथंचिद्भिन्नः कथंचिदभिन्नश्च भवति इत्याशयः । पर्यायापेक्षया भिन्नः, प्रत्य-

भिज्ञानविषयत्वेन द्रव्यपेक्षयात्वभिन्नश्च । द्रव्यगुणयोः पृथक्-सत्ताकत्वासिद्धेर्नात्मज्ञानयोः सर्वथा भिन्नत्वं द्रव्याणामात्मनश्च सर्वथा ज्ञानमात्रत्वासिद्धेर्नात्मज्ञानयोः सर्वथाऽभिन्नत्वमेवेति च किन्तु पर्यायार्थिकनयापेक्षया परस्परं भेदः, द्रव्यार्थिकनयापेक्षयात्वभेद इति सप्तभङ्ग्यात्मकत्वमनेकान्तात्मकत्वमेवात्र विभाव्यम्।

तत्त्वज्ञानं निर्विकारचिदानन्दैकस्वभावपदमात्मनो भिन्नमभिन्नं चेत्युक्त प्रत्युत्तरं ददाति—

द्वि०टीका—यत् यस्मात् कारणात । पूर्वापरीभूतं प्रथमोत्तरं सजातं ज्ञानं स्वपरग्राहकप्रमाणं । सोऽयं सः एष आत्मेति सहजप्रकाश इति कीर्तितः कथितः । तत्तस्मात्कारणात् आत्मा ज्ञानात् ज्ञानतःपृथक् भवति अतो भिन्न;ज्ञानात् पृथक् न भवतीति अभिन्न. इति कथचन अनेकान्तरूपेण भिन्नाभिन्नस्वरूपः । अनेन नित्यैकान्तक्षणिकैकान्तपरिहारेण ज्ञानज्ञानिनोर्न सर्वथा भेद इति भावार्थः ।। ४ ।।

अब श्री अकलंकदेव अनेकान्त दृष्टि से आत्माकी ज्ञान से भिन्नता तथा अभिन्नता सिद्ध करते हैं—

अन्वय-अर्थ— (ज्ञानं) आत्माका ज्ञानगुण (पूर्वापरीभूतं) भूतकाल और भविष्यत्काल के पदार्थों को जानने रूप पर्यायों वाला है। (सः अयं आत्मा)वह प्रसिद्ध यह आत्मा (ज्ञानात्) उस ज्ञानगुणसे (भिन्नः न) सर्वथाभिन्न नहीं है (च) और (अभिन्नः न) सर्वथा अभिन्न-यानी एक रूप भी नहीं है (कथंचन) किसी अपेक्षा

से (भिन्नाभिन्नः) भिन्न और अभिन्न (इति) इस प्रकार (कीर्तितः) कहा गया है।

भावार्थ—ज्ञान आत्मा का एक विशेष गुण है। प्रतिक्षण किसी न किसी विषय को जानते रहना उस ज्ञानगुणकी पर्यायें हैं। इस तरह भूतकालमें ज्ञानगुण की अनन्त पर्यायें हो चुकी हैं और भविष्यत में प्रतिक्षण क्रमक्रम से अनन्त पदार्थोंको ज्ञान जानता रहेगा अतः भविष्यकाल की अपेक्षा भी ज्ञान की अनन्त पर्यायें हैं।

ऐसी दशामें भूत या भविष्य काल की किसी भी ज्ञानगुण की पर्याय की अपेक्षा से ज्ञान आत्मा से भिन्न है क्योंकि वह भूतकालीन या भविष्यत् कालीन पर्यायरूप ज्ञान आत्मासे भिन्न हो चुका है या इस समय नहीं है। अतः ज्ञानसे आत्मा इस अपेक्षासे(कथंचित्) भिन्न है।

परन्तु प्रत्यभिज्ञान से (अन्वयरूप से) जो आत्म-द्रव्य भूतकालमें था या जो आत्मद्रव्य भविष्यकालमें होगा वह आत्मा एक ही है भिन्न भिन्न नहीं है। उस आत्मा का ज्ञानगुण भी सदा आत्मा के साथ रहता है, कभी उससे अलग नहीं होता। अतः द्रव्य अपेक्षा से आत्मा ज्ञानसे भिन्न नहीं है।

तथाच—क्रमसे विचार किया जाय तो पर्यायदृष्टिसे आत्मा ज्ञान से भिन्न है और द्रव्यदृष्टि से अभिन्न है, यानी आत्मा ज्ञानसे भिन्न-अभिन्न रूप है। ॥४॥

आत्मा द्रव्यप्रदेशापेक्षया ज्ञानगुणापेक्षया च कीदृशो भवतीति विभावयति—

स्वदेहप्रमितश्चायं, ज्ञानमात्रोऽपि नैव सः।
ततः सर्वगतश्चायं, विश्वव्यापी न सर्वथा ॥५॥

चन्द्रिका—च पुनः स अयमात्मा स्वदेहप्रमितः स्वस्व-देहः शरीरं तेन प्रमितः तत्प्रमाणः, अपि-पुनः ज्ञानमात्रः ज्ञान-मेवेति ज्ञानमात्रः ज्ञान-प्रमाणः एव न भवतीति। तत् किं सर्वगतो विश्वव्यापी वा भवति ? इति प्रश्ने सत्याह—यस्मात् शरीरप्रमाणः ज्ञानमात्रो वा नास्ति ततः तस्मात् अयं सर्वगतः विश्वव्यापी च स्यात् इत्यपि सर्वथा न। सर्वेषु गतः प्राप्तः। सर्वानर्थान् गत्वा परिच्छिनत्ति इति न। तद्वत विश्वं लोकं प्रदेशैः व्याप्नोति इति विश्वव्यापी इत्यपि सर्वथा न। सर्वथा-निषेधात् स कथञ्चित् स्वदेहप्रमाणः, कथंचित् ज्ञानमात्रः, कथं-चित् सर्वगतः, कथंचित् विश्वव्यापी च।'

इदमत्र तात्पर्यम्—संसारावस्थायाम् शरीरप्रमाणः सन्नपि समुद्घातावस्थायामधिकप्रमाणोऽपि भवति। मुक्तावस्थायां शरीरप्रमाणात् किंचित्न्यूनोऽपि भवति। किं च लोकपूरणसमु-द्घातकाले विश्व-सप्तरज्जुघनाकारं क्षेत्रं प्रदेशैः व्याप्नोति इति विश्वव्यापी भवति न सर्वदा। तद्वत् न स तद्ज्ञानं वा अर्थान् गत्वा परिच्छिनत्ति किन्तु स्वभावतः अर्था एव तत्र प्रतिफलन्ति "दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र" इत्युक्तत्वात्। चक्षुर्भिन्नस्पर्शनादिचतुरिन्द्रियाणां स्पृष्ट-ग्राहित्वं तु न तत्स्वभावविरोधि। तेषां तथाविधत्वेऽपि पदा-र्थेषु गमनानुपलम्भात्, चक्षुर्मनःसु अन्तरेणैव गत्यागती तत्त-द्विषयस्योपलब्धिदर्शनात्। सर्वथा निरावरणावस्थायामेव ज्ञाने

पूर्णशुद्धनिरपेक्षस्वभावादिभिरस्याभिमतत्वात् च। चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वं तु प्रत्यक्षेणानुमानाद्वा सुसिद्धं प्रसिद्धम् च।

स चात्मा किंप्रमाणमिति पृष्टे प्रमाणमावेदयति।

द्वि०टीका—अयं एष आत्मा च यस्मात् कारणात्। स्वदेहप्रमितः स्वकाय-स्वीकृत-शरीरप्रमाणः ततः तस्मात् कारणात् ज्ञानमात्रोऽपि ज्ञानप्रमाणापि सर्वगतः सर्वव्यापो सम्मतः अभिमतः सोऽपि स च सर्वथा सर्वप्रकारेण विश्वव्यापी समस्तलोकव्यापको न तत्सम्मतः। सहजानन्दचैतन्यप्रकाशात्मतत्त्वं सर्वथा शरीरप्रमाणं न भवतीति—तात्पर्यं ॥ ५ ॥

अब ग्रन्थकार यह बतलाते हैं कि आत्मा द्रव्यकी अपेक्षासे तथा ज्ञान की अपेक्षा से कैसा है

अन्वय-अर्थ —(अयं) यह आत्मा (स्वदेहप्रमितः) अपने शरीर के बराबर है, (च) और (सः) वह आत्मा (ज्ञानमात्रः-अपि) ज्ञानगुण मात्र भी यानी ज्ञानके बराबर भी (नैव) नहीं है। (ततः) इस कारण (अयं) यह आत्मा (सर्वथा) सब तरह (सर्वगतः) समस्त पदार्थों को स्पर्श करने वाला (न) नहीं है (च) और (सर्वव्यापी) समस्त जगत में व्यापने वाला भी सर्वथा (न) नहीं है।

भावार्थ—आत्मा लोकाकाश के बराबर असंख्यातप्रदेशी है। परन्तु संसार दशा में कर्म के उदयसे उसको रहने के लिये जैसा छोटा बड़ा शरीर मिलता है उसी शरीरमें सिकुड़ कर या कुछ फैलकर रहता है। केवलीसमुद्घात के समय लोकपूरणदशामें आत्मा के प्रदेश समस्त लोकाकाशमें एक समयके लिये फैल जाते हैं। आहारक वैक्रियिक

तैजस. वेदना. कषाय,मारणान्तिक समुद्घातोंके समय भी आत्मा के कुछ प्रदेश मूल शरीरमें भी रहते हुए कुछ प्रदेश शरीर से बाहर भी निकल कर कुछ दूर तक कुछ समय के लिये जाते हैं, परन्तु फिर समस्त प्रदेश उसी शरीर में आकर समा जाते हैं। सिद्ध-अवस्था में आत्मा के प्रदेश मुक्त शरीर से कुछ कम आकार में बने रहते हैं।

इस तरह संसारी आत्मा समुद्घात के सिवाय अपने शरीर के बराबर है।

आत्मा का मतिज्ञान स्पर्शन, रसना. घ्राण, नेत्र और कर्ण इन्द्रिय तथा मन के द्वारा होता है. श्रुतज्ञान उनसे होता है। शेष तीन ज्ञान (अवधि मनपर्यय, केवल) विना इन्द्रियों की सहायता से होते हैं। इनमें से स्पर्शन रसना, घ्राण और कर्ण इन्द्रियों द्वारा जो मतिज्ञान होता है वह पदार्थों को उन इन्द्रियों के द्वारा छूकर होता है। स्पर्शन इन्द्रिय से तथा रसना इन्द्रियसे छुए हुए पदार्थ के ही स्पर्श या रस का बोध होता है सुगन्ध और दुर्गन्ध के स्कन्ध जब नाकसे लगते हैं तब उनकी सुगन्ध दुर्गन्ध का ज्ञान नाक द्वारा होता है। इसी तरह शब्द जब कान तक पहुंचता है तब कान उस शब्द को सुनता है।

परन्तु आंखें पदार्थ को विना छुए ही दूरसे जान लेती हैं। आकाशवर्ती चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि आदि पदार्थों को विना छुए ही नेत्र जानलेते हैं। मन तो शरीर के भीतर ही रहता है, वह तो किसी पदार्थ को छूता ही नहीं है शरीरके भीतर रहता हुआही अपने विषय का जानता है।

इस तरह ज्ञान आत्मा के साथ रहता हुआ भी आत्मा से दूरवर्ती पदार्थों को जानता है। यानी-दिल्ली में बैठा हुआ मनुष्य लगभग १००० मील दूरवर्ती बम्बई कलकत्ता नगर को भी जान सकता है या जानता है, उसको जानने के लिये उसे कलकत्ता या बम्बई पहुंचना आवश्यक नहीं है

इस प्रकार आत्मा कथंचित् अपने शरीर के बराबर है, कथंचित्

(केवली भगवान की लोकपूरण समुद्घात की अपेक्षा) पूर्ण लोकाकाश-व्यापी भी है। अन्य समुद्घातोंकी अपेक्षा आत्मा शरीरसे कुछ बाहरभी होता है। केवल ज्ञान की अपेक्षा आत्मा सर्वव्यापक (लोक-अलोकको जानने की अपेक्षा) है। ज्ञान आत्मासे बाहर नहीं जाता है, इस कारण कथंचित् आत्मा सर्वव्यापक नहीं है। ५॥

पूर्वोक्तगुणधर्मैर्निर्दिश्यमानोऽपि आत्मा किं स्वरूपतः एकः अनेको वा ? इति प्रश्नमुत्तरयति—

नानाज्ञानस्वभावत्वादेकोऽनेकोऽपि नैव सः।
चेतनैकस्वभावत्वादेकानेकात्मको भवेत॥ ६ ॥

अन्वय—सः पूर्वोक्तः आत्मा एकः, एकस्वभावः अभिन्नैकप्रदेशवान् अपरिणामी, अनन्तगुणधर्मस्वभावविलक्षणः विवक्षितैकस्वभावो न, अपि च अनेकः निरन्वयानेकपरिणामस्वभावः, नित्यानन्तप्रदेशरूपः, विभिन्नसत्ताकानेकगुणधर्मात्मको वा नैव नास्त्येव, अपि न एवेति शब्दाः उभयत्रापि योज्याः एव,शब्दस्यावधारणार्थत्वात स आत्मा सर्वथा एकोऽपि नास्ति अनेकोऽपि नास्ति इत्यर्थः। तर्हि कीदृशः ? किंनिःस्वभावः ?इति प्रश्ने उत्तरयति—स एव आत्मा भवेत् एकानेकात्मको कथंभूतः? एकश्चानेकश्च एकानेकौ तौ उभावपि आत्मा स्वभावो यस्य सः एकानेकात्मकः, स्वार्थे क। कथमिति चेत् हेतुवादेन समर्थयति— नाना-ज्ञानस्वभावत्वात्, चेतनैकस्वभावत्वात् नाना च ज्ञानानि च नानाज्ञानानि तानि स्वभावो यस्य

सः, तस्य भावस्तस्मात् । एतेन सर्वथैकस्वभावत्वं निषिध्य कथंचिदेकस्वभावत्वं प्रत्यापयति । चेतना एव एक स्वभावो यस्य सः तस्य भावस्तस्मात् । एतेन कथंचिदेक-स्वभावत्वं समर्थ्य सर्वथा नानास्वभावत्व परिहरति ।

एतेनोर्ध्वतासामान्यापेक्षया, तिर्यक्सामान्यापेक्षया च आत्मनः कथंचित् एकात्मकत्वमनेकात्मकत्वं साधितं, उभयथा सर्वथैकान्तवादस्तु परिहृतो भवति ।

पुनरप्येकत्वानेकत्वात्मतत्त्वं निरूपयति ।

द्वि० टीका—स आत्मा नाना-ज्ञान-स्वभावत्त्वादनेक-ज्ञान–स्वरूपत्वान्नैकः एको न भवति । चेतनकस्वरूपत्वात् चैतन्यैकस्वभावतः अनेकोऽपि न भवति, अनेकात्मको न भवति, एकानेकात्मकः एकानेकस्वरूपः भवेत् स्यात्, द्रव्यपर्याया-पेक्षया एकत्वानेकत्त्वं भवतीति तात्पर्यम् ॥ ६ ॥

अब बतलाते हैं कि आत्मा एक है या अनेक है—

अन्वय-अर्थ– (सः) वह आत्मा (नानाज्ञानस्वभावत्वात्) अनेक प्रकार के ज्ञानस्वरूप होनेसे (अनेकःअपि) अनेक होते हुए भी (चेतनैकस्वभावत्वात)एक चेतना–स्वभाव होनेसे(एकः) एक होता हुआ भी सर्वथा एक भी (नैव) नहीं है । किन्तु (एकानेकात्मकः) एक तथा अनेकात्मक(भवेत्) होता है ।

भावार्थ-आत्मा ज्ञानगुणमय चेतन पदार्थ है । ज्ञानका प्रतिक्षण भिन्न भिन्न जानने रूप परिणमन हुआ करता है । इस तरह ज्ञानकी पर्यायों की अपेक्षा से आत्मा अनेक रूप है । परन्तु ज्ञान एक

चेतना रूप है अतः उस चेतना की अपेक्षा से आत्मा एक है। किन्तु आत्मा न तो सर्वथा एक है और न सर्वथा अनेक है। वह तो एक-अनेक (दोनों)रूप है।

यानी—पर्याय अपेक्षा ज्ञानके अनेक भेद हैं किन्तु गुणकी अपेक्षा ज्ञान एक ही है। आत्मा ज्ञानगुणमय होनेसे एकात्मक भी है और अनेकात्मक भी है। सर्वथा एक रूपही नहीं है या सर्वथा अनेक रूपही नहीं है ॥६॥

पूर्वोक्तकथनेन हि आत्मनः न सर्वथा एक स्वभावत्वमनेकस्वभावत्वं वा वक्तुं शक्यते। तेन तस्य सर्वथा अवक्तव्यस्वभावत्वमेव सिद्ध्यति इत्याशङ्कापरिहारार्थं सर्वथा वक्तव्यस्वभावत्वमपि निषिध्य कथंचित्तत्स्वभावतां तस्य प्रदर्शयति—

नावक्तव्यः स्वरूपाद्यैर्निर्वाच्यः परभावतः।
तस्मान्नैकान्ततो वाच्यो नापि वाचामगोचरः॥७॥

चन्द्रिका—सः पूर्वोक्त आत्मा अवक्तव्यो न, सर्वथा अवक्तव्य एव न भवति किंतु वक्तव्योऽप्यस्तीत्यर्थः। कुतः कथमिति चेत् हेतुरूपकारणेन स्पष्टीकरोति स्वरूपाद्यैः। स्वस्य रूपं स्वरूपं, अथवा स्वं रूपं स्वरूपं। तत् आद्यं येषां गुणधर्माणामिति तैः स्वरूपाद्यैः। द्रव्यतः अभिन्न—सत्ताकैरस्तित्वादिभिः विवक्षितैर्धर्मैः। पर्यायाश्रितैर्द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रितैर्घटत्वादिभिर्मनुष्यत्वादिभिश्च।

एवं चेदवक्तव्यो न भवति, तर्हि किं वक्तव्य एवेति

शंकापनोदाय पक्षान्तरं सूचयति। स आत्मा कथं चत् निर्वाच्यो भवति। निर्गनो वाच्येभ्यः निर्वाच्यः अर्थात् अवक्तव्योऽप्यस्ति कथमिति चेत्? तत्कारणतां प्रव्यक्तीकरोति परभावतः- परस्य परेषां वा भावः, परे च ते भावाः परभावा इति वा, तेभ्यः हेत्वर्थे—पञ्चमीस्थाने तस्। भिन्नसत्ताकैरविवक्षितैर्वा गुणधर्मैः पूर्वोक्तैरेव, मूर्तत्वादिभिर्ज्ञानादिभिर्वा।

तेन किं सिद्धमिति निरूपयति—

यतः सर्वथा न अवक्तव्यो, नापि सर्वथा वक्तव्य एवेति तस्मात् न एकान्ततः वाच्यः वक्तव्यः, नापि एकान्ततः वाचामगोचरः अवक्तव्यः। एकाश्चासौ अन्तो धर्मो यत्र स एकान्तः तस्मात् एकान्ततः। वस्तुनामेकधर्मात्मकत्वे, अप्रतिपक्षैकधर्मात्मकत्वपक्षस्वीकारे वा। सर्वथात्वेन वक्तव्यत्वावक्तव्यत्वयोर्निषेधः न वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वे, प्रतिपाद्यधर्माणां सप्रतिपक्षत्वाङ्गीकारे वा। एवं चैकास्मिन्नेव काले कथंचित् वस्तुन आत्मनो वा वक्तव्यत्वमवक्तव्यत्वं च प्रसिद्धं भवति।

पुनरपि एतत् सहजपरमात्मतत्त्वं वाच्यावाच्यं भवतीति निरूपयति

द्वि० टीका —स एवात्मा एकानेकरूपः। आत्मा स्वरूपाद्यैः स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र- स्वकाल-स्वभावरूप - स्वरूपादि-चतुष्टयेन वक्तव्यः। आत्मादिशब्दैर्वाच्यः। परभावतः पर-द्रव्य-परक्षेत्र-परकाल-परभावरूपादि - चतुष्टयेन निर्वाच्यः आत्मादिशब्दैरवाच्यः। तस्मात् ततः कारणात् एकान्ततः

सर्वप्रकारेण वाच्यः वचनविषयो न भवति । वाचां वचनानां अगोचरः अविषयः नापि न स्यात् । स्वरूपादिचतुष्टयेन वाच्यः, पररूपादिचतुष्टयेनावाच्यो भवतीति भावार्थः ॥७॥

अब श्री अकलंक देव यह बतलाते हैं कि आत्मा न तो सर्वथा वक्तव्य है और न सर्वथा अवक्तव्य है—

अन्वयार्थ—आत्मा (स्वरूपाद्यैः) स्वरूप आदि की अपेक्षा (अवक्तव्यः न) अवक्तव्य नहीं है। (परभावतः) अन्य अविवक्षित धर्मों की अपेक्षा (निर्वाच्यः) आत्मा अवक्तव्य है। (तस्मात्) इस कारण आत्मा (एकान्ततः) एकान्त से यानी सर्वथा (न वाच्यः) न तो वक्तव्य है और (नापि) न सर्वथा (वाचां अगोचरः) अवक्तव्य है। ॥७॥

भावार्थ—आत्मा अपने स्वरूप की अपेक्षा कहा जाता है अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल और भाव (परिणमन) रूप से आत्मा का शब्दों द्वारा कथन किया जाता है। इस कारण आत्मा अपने स्वरूप-द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा वक्तव्य (कहने योग्य) है। परन्तु वह आत्मा अन्य पुद्गल आदि पदार्थों की अपेक्षा वक्तव्य (कहने-योग्य) नहीं है क्योंकि अन्य पदार्थोंके द्रव्य क्षेत्र काल भाव से आत्मा का स्वरूप भिन्न है, उस अपेक्षा से आत्मा अवक्तव्य (शब्दों द्वारा न कहने योग्य) है। इस तरह आत्मा न तो एकान्त से सर्वथा वक्तव्य है और न सर्वथा अवक्तव्य है। यानी वह कथंचित् वक्तव्य है और कथंचित् अवक्तव्य है॥ ७॥

विशेषतस्तु सप्तभङ्ग्यात्मकत्वं वस्तुनः ग्रन्थान्तरेभ्य ऊह्यम्। एवं पूर्वोक्तसप्रतिपक्षधर्मतां निर्दिश्य इदानीं सामान्येन वस्तुनः विधिप्रतिषेधात्मकतास्वभावं प्रतिपाद्य आत्मनो मूर्तामूर्तात्मकतां निरूपयति—

स स्याद्विधिनिषेधात्मा, स्वधर्मपरधर्मयोः ।
समूर्तिर्बोधमूर्तित्वादमूर्तिश्च विपर्ययात् ॥ ८ ॥

चन्द्रिका—स पूर्वोक्तः सप्रतिपक्षानेकधर्मात्मकः आत्मा स्यात् कथंचिदस्ति । कथंभूतः ? विधिनिषेधात्मा विधिश्च निषेधश्च विधिनिषेधौ तौ आत्मा स्वभावो यस्य सः । सामान्येन वस्तुमात्रस्य विधिप्रतिषेधात्मकत्वादात्मापि तथाभूतः । कथमेकस्यैव वस्तुनो विधिप्रतिषेधात्मकत्वं विरोधादि-दोषसंभवादिति चेत् न, कथं ? स्वधर्म-परधर्मयोः स्वस्य धर्मः स्वधर्मः, परस्य धर्मः परधर्मः तयोः यद्वा यो यत्र विवक्षितः स तत्र स्वधर्मः, यश्चाविवक्षितः स परधर्मः इति स्वधर्मापेक्षायां विध्यात्मकत्वं परधर्मापेक्षायां निषेधात्मकत्वमित्यर्थः । नहि किंचिदपि वस्तु कदाचिदपि, स्वरूपं सर्वथा त्यजति परस्वरूपं चात्मसात्कुरुते । एवं च वस्तुमात्रस्वभावानतिक्रमादात्मापि विधिप्रतिषेधात्मा सिद्धः ।

किंचात्मनो विशिष्टस्वभावं, तत्रापि विधिप्रतिषेधात्मकत्वं च अव्यक्तीकरोति । यतः स आत्मा अस्ति, कथंभूतः समूर्तिः मूर्त्याः स्वभावेन आकारेण वा सहितः समूर्तिः । कथम् ? बोधमूर्तित्वात् । बोधश्चैतन्यमुपयोगः साकारपरिणतिर्वा सा एवं मूर्तिः आकारः वा यस्य स, तस्य भावस्तस्मात् । चैतन्यस्वभावादुपयोगात्मकत्वाद्वा । इदानीं तत्प्रतिपक्षस्वभावं दर्शयति । स

आत्मा न केवलं समूर्तिः, अमूर्तिश्चास्ति, कथं ? विपर्ययात् । वि—विरुद्धं चैतन्यस्वभावरहितत्वेन पर्येति-परिणमयति इति विपर्ययः तस्मात् अचिद्द्रव्यापेक्षया, मूर्तिमद्द्रव्यापेक्षया चेतनेतरगुणधर्मापेक्षया वा । रूपादिमत्वं संस्थानविशेषो वा मूर्तिः आत्मनस्तद्विलक्षणत्वादिति ।

पुनरपि अस्ति-नास्ति रूपेणात्मतत्वमावेदयति—

द्वि० टीका—सः तत्-सहजविलासविजृम्भितात्मपदार्थः स्वधर्म-पर-धर्मयोः आत्मगत ज्ञानादिधर्मः परगत-रूपादि-धर्मयोर्विवक्षितयोः । सतोर्विधिनिषेधात्मा अस्ति-नास्ति-स्वरूपः स्याद् भवेत् बोधमूर्तित्वात् ज्ञानस्वरूपत्वात् समूर्तिः मूर्तियुक्तः, विपर्ययात् रूपादिरहितत्वात् अमूर्तिः-अमूर्त्तो भवति सर्वथा अस्ति-नास्ति-स्वरूपं वस्तु नास्तीति तात्पर्यं ।। ८ ।।

अब आत्मा को विधिनिषेधात्मक बतलाते हुए आत्मा को मूर्तिक तथा अमूर्तिक बतलाते हैं—

अन्वय-अर्थ—(सः) वह आत्मा (स्वधर्मपरधर्मयोः) अपने धर्म-भाव और पर-धर्म कथनमें (विधिनिषेधात्मा) विधि-आत्मक तथा निषेधात्मक (स्यात) होता है । (बोधमूर्तित्वाद्) ज्ञानमूर्ति होनेसे (समूर्तिः) आत्मा मूर्त्तिमान् है (च) और (विपर्ययात) विपरीत अपेक्षासे (अमूर्तिः) अमूर्त्तिक है

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ अनुयोगी और प्रतियोगी धर्म वाला होता है । अपने सत्ताभूत धर्म अनुयोगी हैं, उन अनुयोगी धर्मोंसे वह विधि

रूप (विधान करने योग्य-अस्तिरूप से कहने योग्य) होता है और प्रतियोगी (असत्ताभूत-नास्ति रूप) धर्मों से पदार्थ निषेधात्मक (नास्ति रूपसे वर्णन करने रूप) होता है । तदनुसार आत्मा जब ज्ञानमय है और ज्ञान एक साकार (ज्ञय पदार्थों का आकार ग्रहण करने वाला) गुण है, अतः साकार ज्ञान गुणमय होने की अपेक्षा तथा निजी आकार (लम्बाई चौड़ाई मोटाई) की अपेक्षा भी आत्मा मूर्तिमान कहा जाता है। एवं इसके विपरीत ज्ञानगुण के सिवाय निराकार दर्शन आदि गुणोंकी अपेक्षा या मूर्त पुद्गल रूप न होनेकी अपेक्षाआत्मा अमूर्तिक कहा जाता है। यानी-आत्मा (संसारी या-सिद्ध)अपने आकार (मनुष्याकार आदि) का अपेक्षा साकार समूर्तिक है और दृष्टिगोचर न होनेसे निराकार अमूर्तिक भी है ॥ ८॥

पूर्वोक्तनिदर्शनैरनेकधर्मात्मकत्वकथनमुपसंहृत्य, परसंयोगवियोगाद्यपेक्षया जायमानां तस्य तत्वव्यवस्थामपि कारणद्युल्लेखपूर्वक स्पष्टीकरोति—

इत्याद्यनेकधर्मत्वं, बन्धमोक्षौ तयोः फलम् ।
आत्मा स्वीकुरुते तत्तत्कारणैः स्वयमेव तु ॥६॥

चन्द्रिका— स्वीकुरुते आत्मसात्करोति, कः ? आत्मा किं किं स्वीकुरुते,

इत्याद्यनकधर्मत्वं, इति ये निदर्शत्वेन पूर्वमुक्ता इदानीं तु उपसंह्रियन्ते तान् आदिम् प्रथमं कृत्वा । पूर्वोक्तानेकधर्मप्रभृतयः इत्यर्थः । अन्येऽपि अनेके धर्मा यत्र स तद्भूत्त्वं । यथा पूर्वमनेके धर्मा दृष्टान्तरूपेण उक्ताः तथैव अन्यानपि अनेकान् आगमोक्तान् युक्त्यनुभवगम्यांश्च धर्मानात्मा स्वीकरोति ।

कथमिति चेत् ? तत्तत्कारणैः। तानि तानि च कारणानि च तत्तत्कारणानि-तत्तद्वस्तूनि अनेकभेद-प्रभेदसहितैः प्रमाणनय-निक्षेपानुयोगैः, उपादाननिमित्तभेदरूपैः करणैः कारणैर्वा।

पुनः किं स्वीकुरुते ? बन्धमोक्षौ। बन्धश्च मोक्षश्च बंध-मोक्षौ। बन्धावस्थां मोक्षावस्थां चात्मसात् करोति। कथं ? तत्तत्कारणैः। आस्रवसंवरनिर्जरापूर्वकैः, तत्तत्कारणपूर्वकैश्च। साम्परायिकेर्यापथभेदप्रभेदरूपैः योगस्थानैः मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमादकषायरूपैर्भावस्थानैश्च बन्धकारणैः। गुप्तिसमितिधर्मा-नुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः मोक्षोपायभूतैः संवररूपैः। तपोभेदप्रभे दरूपैःनिर्जरास्थानैश्च

आत्मा पुनः किं स्वीकुरुते ? तयोः फलम्। तयोः बन्ध-मोक्षयोः जायमानं परिणाममवस्थान्तरम् इत्यर्थः कथं ? तत्त-त्कारणैः। अधिगमोपायरूपैरुक्तैः प्रमाणादिभिर्ये गुणधर्मा उक्ता-स्तैस्तैस्तत्तत्फलम्, यानि च बन्धकारणानि उक्तानि तैस्तैस्त-त्तत्फलम् यानि तु मोक्षकारणानि निर्दिष्टानि तैस्तैस्तु तत्तत्फ-मात्मसात् करोति।

अत्र विशेषः—तु परन्तु स्वयमेव स्वाभाव्यात् स्वभावनाति-क्रमेणैवेत्यर्थः। एतेन वस्त्वन्तरपरिणमनकर्तृत्वमीश्वरकर्तृ-त्वादिकं च निषिद्धं भवति॥ ९॥

निश्चयेन सहजसुखरस-स्वादकोऽपि व्यवहारेण कर्मफलभोक्ता भवतीति सूचयति —

द्वि० टीका—हे आत्मन् सहजसुखनिलय परमपदार्थ-त्वं त्वं च इत्याद्यनेकधर्मा कथितोपयोगादि-धर्मस्वरूपो भवसि असि तु पुनः त्वमेव त्वमेव बन्धमोक्षौ प्रकृत्याद्यात्मक-बन्धस्तद्विलक्षणमोक्षस्तयोः तत्-बन्धमोक्षयोः फलं कार्यरूपं। तत्कारणैस्तेषां कारणैः स्वीकुरुषे। स्वयमेवाऽभ्युपगच्छसि। बन्धं मोक्षफलानुभवसामर्थ्याद् बन्ध बन्धफलं परित्यज्य, मोक्ष-मोक्षफले स्वीकुर्यादिति तात्पर्यं ॥९॥

आत्मा को अनेकधर्मात्मक बतला करके उपसंहार करते हुए अब आत्माकी तात्त्विक व्यवस्था बतलाते हैं—

अन्वय-अर्थ—(इत्याद्यनेकधर्मत्व) चेतन, अचेतन, मूर्तिक, अमूर्तिक आदि अनेक धर्मत्वको, (बन्धमोक्षौ) कर्म-बन्ध और मोक्ष को (तु) और (तयोः) उन बन्ध और मोक्षके (फलम्) फलको (तत्तत्कारणैः) उन उनके कारणों से (आत्मा)आत्मा (स्वयमेव) स्वयं ही (स्वीकुरुते) स्वीकार करता है।

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थमें अनन्तों धर्म अनुयोगी (वस्तुभूत,सत्ताभूत) होते हैं और अनन्तों प्रतियोगी (असत्तारूप, अभावरूप) धर्म होते हैं। जब जिस धर्म की विवक्षा (कथन करने की इच्छा) होती है तब उन अनुयोगी धर्मोंको विधिरूप (अस्तिरूप) से सकारण वर्णन किया जाता है और जब किसी प्रतियोगी धर्म का वर्णन करना आवश्यक होता है तब उस धर्मका निषेध(नास्तित्व)कारण सहित बताया जाता है। इस तरह प्रत्येक पदार्थ अनेक-धर्मात्मक होता है।

कर्मबन्ध, भवभ्रमण भी मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम से आस्रवों बन्ध तत्व के रूप में होता है और सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र द्वारा संवर निर्जरा की प्रक्रिया से मोक्ष होता है। आत्मा स्वयं विभिन्न कारणों

से वन्ध या मोक्ष की प्रक्रिया किया करता है ॥ ६ ॥

तथा चोक्तम्—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वय तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥*

अत्र स्वरूपव्यवस्था, वन्धमोक्षव्यवस्था, तत्फलभोक्तृत्वव्यवस्था च प्रदर्शिता। एवं च सप्ततत्त्वस्वरूपं संक्षेपेण प्रतिपादितम्। कार्यकारणभवेऽपि स्वातन्त्र्यं—वस्तुस्वभावानतिक्रमणेनैव तथा परिणतिर्भवतीति चोक्तम्। अथवा "स्वयं-तु" इति पदस्य फलेनैव सम्बन्धो याज्यः। आत्मा तयोः फलं तु स्वयमेव भुंक्ते इत्यर्थः। तेन कर्मकर्तृत्वे स्वातन्त्र्यं तत्फलभोक्तृत्वे तु पारतन्त्र्यमात्मनः इति कथनस्यापसिद्धान्तत्वं प्रकटितं भवति।

अब ग्रन्थकार बतलाते हैं कि जीवको संसारमें भ्रमण कराने वाला, कर्मफल भुगाने वाला और संसार से छुटाने वाला कौन है—

अन्वय-अर्थ—(आत्मा) संसारी जीव (स्वयं) अपने आप (कर्म) शुभ, अशुभ-कर्म-बन्ध (करोति) करता है। (स्वयं) स्वयं (तत्फलं) उस किये हुए कर्म का फल (अश्नुते) पाता है। (स्वयं) अपने आप (संसारे) मनुष्य, देव, तिर्यंच और नरकगति रूप संसार में (भ्रमति) भ्रमण करता है। (स्वयं) अपने आप (तस्मात्) उस संसारसे (विमुच्यते) छूट जाता है।

---

* मुद्रित पुस्तकमें इस श्लोक पर श्लोक संख्या अंकित नहीं है। तथा अज्ञात नामा द्वितीय संस्कृत टीकाकार ने इस श्लोक की टीका नहीं की है। अतः प्रस्तुत संस्करण में भी इस श्लोक पर कोई संख्या नही दी है।

भावार्थ—यह आत्मा स्वय अपने राग द्वेष मोह आदि भावों के द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु , नाम , गोत्र और अन्तराय कर्मों का बन्ध किया करता है और जब कर्म का उदय होता है तो आत्मा स्वयं उसके अच्छे या बुरे फल को भोगा करता है, चारो गतियोंमें जन्म मरण भी यह आत्मा अपने कर्मों के अनुसार किया करता है। तथा निर्ग्रन्थ गुरु द्वारा जिनवाणी सुनकर जब यह शरीर आत्मा का भेदभाव समझकर आत्माका श्रद्धालु बनता है , संसार शरीर और विषय-भोगों से विरक्त होता है, तब यह सम्यग्दृष्टि बनकर स्वयं कर्मोंसे मुक्त होने के मार्ग पर चल पड़ता है। अपनी आत्मचर्या—सम्यक्चारित्र को उन्नत करता हुआ संवर निर्जरा की पद्धति से शुक्लध्यान द्वारा समस्त कर्मोंसे छूटकर, जन्म मरण का सदाके लिये विनाश करके मुक्त भी अपने आप होता है। यानी-यह आत्मा स्वयं कर्ता, भोक्ता, भ्रमणकर्ता और मुक्त होता है

उक्तार्थस्य प्रकारान्तरेण समर्थनपूर्वकं, मुक्तौ हेतुव्यवस्थां प्ररूपयति—

कर्त्ता यः कर्मणां भोक्ता, तत्फलानां स एव तु ।
बहिरन्तरुपायाभ्यां, तेषां मुक्तत्वमेव हि ॥ १०॥

चन्द्रिका — य आत्मा कर्मणां ज्ञानावरणादीनां कर्त्ता बन्धको भवति तत्फलानामज्ञानादीनां भोक्ता तु अपि स एव । न अन्यः "प्रकृतिस्तु कर्त्री पुरुषस्तु फलभोक्ता" इति सिद्धान्तस्यायुक्तत्वं तु वस्तुस्वरूपविरुद्धत्वात् ।

एवं चेत् कथमात्मा मुक्तः स्यात् । कर्मकर्तृत्वतत्फलभोक्तृत्वयोरनादिपरम्परावदनन्तत्वस्यापि प्रसक्तेः कर्मचेत-

नायाः कर्मफलचेतनायाश्च भिन्नानामुपायान्तराणामभावात् च। इत्यत आह हि यतः स एव आत्मा तेषां-कर्मणां—द्रव्य-कर्मभावकर्मनोकर्मणां तत्कर्तृत्वस्य, तत्फलानां—मोहरागद्वेषाज्ञानादीनां तत्फलभोक्तृत्वविपाकाशयसम्बन्धस्य चेत्येतेषां मुक्तत्वमपि लभते इति शेषः। कथमिति चेत्? बहिरन्तरुपायाभ्याम्। बहिश्चान्तश्च बहिरन्तः तौ च तौ उपायौ चेति ताभ्याम्। बहिरन्तरुपाययोर्ज्ञानरूपत्वेन कर्मचेतना कर्मफलचेतनाया विलक्षणत्वात् निश्चयेनैताभ्यामुपायाभ्याम् आत्मा मुक्तत्वं शुद्धानन्तज्ञानानन्दस्वभावं लभते एवेति तात्पर्यम्।

अन्तरङ्गबहिरङ्गसामग्रीसद्भावात् एव मोक्षो भवतीति कथयति—

द्वि० टीका—(उक्त दोनों श्लोकोंकी)—यो यः कश्चिज्जीवः कर्मणाम् वृजिनानाम् कर्त्ता व्यवहारेण यः करोति स कर्त्ता, तु पुनः। स एव कर्मकर्तैव तत्-फलानां तत्शुभाशुभरूपकर्मफलानां भोक्ता आस्वादकः। बहिरन्तरुपायाभ्यां अन्तरङ्गबहिरङ्गहेतुभ्यां त्वमेव सः, स त्वं तेषां कृतकर्मणां मोक्ता विनाशकः। पातनिकार्थो भावार्थः॥

उसी बातको और स्पष्ट समझाते हैं—

अन्वय-अर्थ—(यः) जो आत्मा (कर्मणां) अपने राग द्वेष मोह आदि भावों का तथा उन भावों के द्वारा ज्ञानावरण आदि कर्मों का बन्ध (कर्ता) करने वाला है। (स एव) वही आत्मा (तत्फलानां) उन कर्मोंके शुभ अशुभ फलों का (भोक्ता) भोगने वाला है (तु) और (हि) निश्चय करके (बहिरन्तरुपायाभ्यां) बहिरङ्ग

और अन्तरंग उपायों द्वारा (तेषाम्) उन कर्मोंका (मुक्तत्वं एव) छूट जाना भी उसी आत्मा को होता है।

भावार्थ—जीवको संसार में घुमाने वाला, उसको सुख दुख देने वाला तथा संसार और कर्मों से जीव को मुक्त करने वाला कोई अन्य व्यक्ति नहीं है, यह समस्त कार्य आत्मा स्वयं करता है। यह आत्मा स्वयं अपने मिथ्यात्व, राग द्वेष मोह ममतादि भावों से शरीर परिवार, धन मकान आदि को अपना करके कर्मबन्ध किया करता है तथा कर्मों के उदय आने पर उन कर्मों का फल आत्मा को स्वयं भोगना पड़ता है। आत्मा तथा कर्म, नोकर्म (शरीर) का भेद-विज्ञान होजाने पर सम्यक्त्व, सत्ज्ञान स्वयं होता है तथा अन्तरंग बहिरङ्ग तपश्चर्या द्वारा कर्मों से मुक्त भी आत्मा स्वयं होता है।

उसके संसार-भ्रमण तथा संसार छूटने में अन्य कोई सहायक नहीं होता। यह सभी सांसारिक पारमार्थिक आध्यात्मिक कार्य जीव अकेला ही करता है॥ १०॥

को तौ बहिरन्तरुपायौ ? इति प्रश्ने, अन्तरुपायस्य प्राधान्यात् प्रथमं तमेव कलापकेन निर्दिशति—

सद्दृष्टिज्ञानचारित्रमुपायः स्वात्मलब्धये।
तत्वे याथात्म्यसंस्थित्यमात्मनो दर्शनं मतम्॥११॥
यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म, कथंचित् प्रमितेः पृथक्॥१२॥
दर्शनज्ञानपर्यायेषूत्तरोत्तरभाविषु।
स्थिरमालम्बनं यद्वा, माध्यस्थ्यं सुखदुःखयोः॥१३॥

ज्ञाता दृष्टाऽहमेकोऽहं, सुखे दुःखे न चापरः ।
इतीदं भावनादार्ढ्यं, चारित्रमथवा परम् ॥१४॥

चन्द्रिका—उपायः हेतुरस्ति कस्यै ? स्वात्मलब्धये, स्वस्य आत्मनः स्वरूपं तस्य लब्धिः प्राप्तिः तस्यै, निजस्वरूपसिद्धये । अथवा सु सुष्ठु आत्मा स्वात्मा शुद्धपरमात्मदशापन्न आत्मा । तल्लब्धये परमात्मत्वसिद्धये । किं तत् ? सद्दृष्टिज्ञानचारित्रम् । दृष्टिश्च ज्ञानं च चारित्रं च तेषां समाहारः । सच्च तत् दृष्टिज्ञानचारित्रम् च सद्दृष्टिज्ञानचारित्रम् । सच्छब्दस्य त्रिषु सम्बन्धो बोध्यः । तेन नैकस्य द्वयोर्वा उपायत्वमित्युक्तं भवति समाहारैकत्ववचनात् । न त्रयाणामपि पृथक् २ उपायत्वमित्यपि बोध्यम् । तेन मुक्तेर्मिथ्योपायानां सप्तविधत्वं तत्परिहार्यत्वं च प्रतिपादितम् ।

त्रयाणामपि क्रमेण लक्षणम् कथयति –

मतम् सम्मतम् आचार्याणामिति शेषः । किं तत् ? दर्शनम् । सद्दृष्टिः सम्यग्दर्शनम् । सिद्धत्वोपायेषु प्रथमत्वेन निर्दिष्टो हेतुः सम्यक्त्वमिति यावत् । किं भूतम् ? याथात्म्यसंस्थित्यम् । यथात्मा तस्य भावः याथात्म्यं तत्र संस्थित्यम् सम्यक्तया अवस्थानं । कस्य ? आत्मनः । क ? तत्त्वे, तस्य भावस्तत्त्वं तत्र । योऽर्थो यथावस्थितः तथा तस्य भवने भावेन भाववतोऽप्यभिधानात् अर्थे च । यतः श्रद्धा रुचिः प्रतीतिरेवमादयः समानार्थाः । जीवाजीवाद्यात्मकस्य सप्तविधतत्त्वस्य सर्वज्ञेन

यथास्वरूपं निर्दिष्टं तथैव "इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा" इत्याकारेण श्रद्धानं रोचनं प्रत्ययनं वा सम्यग्दर्शनम्। यद्वा आत्मनो ज्ञानिनो जीवस्य तत्त्वे जिनोक्तनिजशुद्धस्वरूपे याथात्म्यसंस्थित्यम् सम्यग्दर्शनं मतम् निश्चयेनेति भावः।

किं सम्यग्ज्ञानम् ? तत् सम्यग्ज्ञानं मतम् किं ? या यथावद्वस्तुनिर्णीतिः यथावत् अव्यभिचारितया संशयादिराहित्येन वा वस्तुनः सतः प्रमेयमात्रस्य वा निर्णीतिः निश्चयः परिच्छेदोऽवबोध इत्यर्थः। कथंभूतं तत्सम्यग्ज्ञानं स्वार्थव्यवसायात्म। स्वश्चार्थश्च स्वार्थौ तयोः व्यवसायः निश्चयः स एव आत्मा स्वरूपं यस्य तत्। तद्धि न केवलं स्वमेव अर्थमेव वा परिच्छिनत्ति इति बोधनफलम् विशेषणम् अन्यथा न्यायशास्त्रोक्तानेकदोषप्रसङ्गः। ननु एकमेव ज्ञानं कथं स्वं परमर्थं च परिच्छिनत्ति ? अतः दृष्टान्तेन समर्थ्यते। प्रदीपवत यथा प्रदीपः स्वं परमार्थं च प्रदीपयति। न तत्र करणान्तरं मृग्यम् तद्वत्, ननु परिच्छेदात्मकं प्रमाणरूपं सम्यग्ज्ञानं करणम्, निर्णीतिस्तु भावसाधनरूपा फलभूता कथमुभयोः सामानाधिकरण्यम् ? एकत्वे तु फलात्मकेन ज्ञानेन पृथक् भाव्यम् अत आह—तत् सम्यग्ज्ञानं प्रमितेः फलभूतायाः अज्ञाननिवृत्त्यात्मिकायाः ज्ञप्तेः कथंचित् पृथक्।

किं चारित्रमत आह—चारित्रं भवति, किं ? स्थिरम् आलम्बनम्। स्वविषयेभ्यो योगस्याप्रच्यवनम् केषु ? दर्शन-

ज्ञानपर्यायेषु सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानपरिणमनेषु, कथंभूतेषु ? उत्तरोत्तरभाविषु। क्रमशो यथोत्तरमुत्पद्यमानेषु। उद्योतोनोद्यवनिर्वाहसिद्धिनिस्तरणरूपपरिणामेषु अथवा उपशमनक्षपणविधानगतेषु सम्यग्दर्शनपर्यायेषु, यद्वा आज्ञामार्गादिदशविधसम्यक्त्वेषु तथैवाद्यतादिप्रकारेषु, धर्मध्यानशुक्लध्यानगतश्रुतविकल्पात्मकज्ञानपर्यायेषु च इन्द्रियानिन्द्रियबाह्यविषयव्यावर्तनपूर्वकमैकाग्र्यं तत् चारित्रमित्यर्थः।

यद्वा, — अपरमपि चारित्रं भवति, किं तत् ? सुखदुःखयोः माध्यस्थ्यम्। मोहोदयसहचरितसातासातवेदनीयोदयजन्येष्टानिष्टविकल्पयोः माध्यस्थ्यम् रागद्वेषाभावः साम्यावस्थानम्।

अथवा चारित्रस्यापरमपि लक्षणं भवति, तृतीयमपि प्रकारं भवतीत्यर्थः। किं तत् ? भावनादार्ढ्यम् भावनायाः निर्वर्तनापरिणतेः अभीष्टविषयपरिणमनप्रयोजकत्वसंपृक्तपरिणतेः दार्ढ्यम् दृढत्वम्। ततः कथंभूतं भवतीति "इतोदं" शब्देन स्पष्टीकरोति। तथाहि—

सुखे सातोदयजनितपरिणामे, दुःखे असातवेदनीयोदयसम्भूतपरिणामे, अहम् एकः अद्वितीयः केवलं ज्ञाता द्रष्टा। उपयोगस्वभावत्वान्मम, एतयोः सुखदुःखपरिणामयोस्तु तद्विरुद्धत्वात् केवलमहमेनयोः ज्ञाता द्रष्टैव भवामि, अहमेतयोरपरः कर्त्रादिकारकरूपो न भवामि। निश्चयेन द्रव्यभावस्वभावनि-

भावनादित्यर्थः।

मुक्तिहेतुमाह—

द्वि० टीका—सद्दृष्टिज्ञानचारित्रं सम्यग्दर्शनावबोध-चारित्रं स्वात्मलब्धये आत्म-स्वरूपः-प्राप्तये उपायःमुख्य कारणं भवति। तत्र दर्शनं किंरूपं इत्युक्ते प्राह तत्वे शुद्धात्म-तत्त्वे याथात्म्य सौस्थित्यं अविचलितरुचिः। आत्मनो जीवस्य दर्शनं, सम्यग्दशनं मतं-संमत, निजशुद्धात्मतत्वे रुचिः सम्यग्दशनमिति तात्पर्य।

सम्यग्ज्ञानस्वरूपमाह—

द्वि० टीका—यथावद्वस्तु-निर्णीतिः स्वरूपाऽनत्तिक्रम-वस्तु-परिच्छितिः सम्यग्ज्ञानं भवति तत् सम्यग्ज्ञान प्रदीप-वत् विशदप्रदीपो यथा स्वार्थ-व्यवसायात्मा स्वपरप्रकाशरूपः प्रमितेः ज्ञान-व्यापारात् तत्सकलं ज्ञानं कथंचित्केनापि कारणेन न पृथक् न भिन्नं प्रमाणं स्वकीयफलरूपप्रमितेः सर्वथा भिन्नं न भवतीति तात्पर्यं॥ १२॥

पुनरपि चारित्रस्वरूपं श्लोकद्वयेन प्रतिपादयन्नाह—

द्वि० टीका—उत्तरोत्तरभाविषु अपरापरोत्पद्यमानेषु दर्शन-ज्ञानपर्यायेषु सम्यग्दर्शनज्ञानपर्यायेष्वधिकरण - भूतेषु स्थिरं अविचलं आलंबनं आश्रयणं चारित्रं चरणं भवति। यद्वा अथवा सुख-दुःखयो सतोर्विषय-भूतयोर्वामध्यस्थ्यं उदासीनता चारित्रं स्यात्। ज्ञाता ज्ञायकः द्रष्टा दर्शी अहं अह-

मेव एक अद्वितीयः सुखे-दुःखे सुख-दुःखानुभवने अहमेव एक असहायः। अपरमन्यत्सहायं न च नास्ति इति एवं इदं एतत् भावना-दार्ढ्यं भावना दृढत्वं, अथवा यथा चारित्रं चरणं मतं सम्मतं एतत् निजभावनारूपचारित्रं मुख्यं मुक्तिकारणं भवतीति तात्पर्यम् ॥ १३-१४ ॥

संसारके समस्त दुखोंसे छूटने के लिये अन्तरङ्ग उपाय कौनसे हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार बतलाते हैं—

अन्वय-अर्थ—(स्वात्मलब्धये) अपना शुद्ध आत्म-स्वरूप प्राप्त करने के लिये (उपायः) अन्तरङ्ग उपाय (सद्दृष्टिज्ञानचारित्रम्) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। (तत्त्वे) आत्म-तत्त्वमें (याथात्म्यसंस्थितत्वम्) यथार्थ श्रद्धान (आत्मनः) आत्माका (दर्शन) सम्यग्दर्शन (मतम्) माना गया है। (प्रदीपवत्) अपने आपको तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने वाले दीपकके समान (यथार्थ-वस्तुनिर्णीतिः) आत्मा का तथा अन्य पदार्थोंका यथार्थ निर्णय करना यानी-जानना (सम्यग्ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान है। (तत्) वह सम्यग्ज्ञान (स्वार्थव्यवसायात्म) अपने आत्मतत्त्व का तथा अजीव आदि तत्त्वों का निश्चय करने रूप है, (कथंञ्चित्) किसी अपेक्षा से वह सम्यग्ज्ञान (प्रमितेः) प्रमिति यानी अज्ञान की निवृत्ति से (पृथक्) अलग है (उत्तरोत्तरभाविषु) उत्तर उत्तर यानी आगे आगे या उन्नत उन्नत होने वाली (दर्शनज्ञानपर्यायेषु) सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की पर्यायों में (स्थिरम्) स्थिर-अचल (आलम्बनम्) आलम्बन करना-ठहरना (यद्वा) अथवा (सुखदुःखयोः) कर्म-उदयसे होने वाले सुख दुखमें (माध्यस्थ्यं) मध्यस्थ भाव होना, (अहम) मैं (एकः) अकेला हूं, (च) और (अपरः) मेरा कोई दूसरा (न) नहीं है, (सुखे दुःखे) सुख दुखमें (ज्ञाता दृष्टा) मैं ज्ञाता द्रष्टा यानी-जानने

देखने वाला हूं, (इति इदं) इस प्रकार यह (भावनादार्ढ्यं) आत्म-भावना की दृढता (अथवा) या (परम्) उत्कृष्ट वीतरागभाव (चारित्रम्) सम्यक्चारित्र है ॥ ११-१२-१३ १४ ॥

भावार्थ—आत्मा का शुद्ध स्वभाव प्राप्त करने के लिये अन्तरङ्ग उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र है। आत्मा और शरीर आदि पर-पदार्थ की भेदभाव रूप श्रद्धा तथा आत्मा की रुचि या आत्माका अनुभूति सम्यग्दर्शन है। आत्माका तथा अन्य पदार्थोंका तात्विक यथार्थ निश्चित ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है। वह आध्यात्मिक सम्यग्ज्ञान कथंचित् वाह्य पदार्थ-ज्ञान से भिन्न है। संसारसे, शरीरसे, विषय भोगोंसे, परिवारसे, तथा धन मकान आदि पदार्थोंसे विरक्त-भाव होना, व्रत-रूप चर्या तथा कर्म-उदय से होने वाले सुख दुखमें समान भाव का होना यानी दुख आने पर खेद विषाद न करना, सुख आने पर हर्षित न होना एवं अपने आपका सबसे पृथक् अकेले-पनका दृढ भावना रखना, सब बातोंमें अपने आपको केवल ज्ञाता द्रष्टा (जानने देखने वाला) बनाना, यानी सांसारिक विषयों में, सुख दुखमें राग द्वेष भावना से लीन न होना, विरक्त रहना, इन्द्रियों पर नियन्त्रण करना, प्राणीमात्र से मैत्री-भाव होना, सम्यक्चारित्र है। शुक्लध्यान द्वारा मोह भाव का पूर्ण क्षय करके वीतराग बनना यथा-ख्यात नामधारी उत्कृष्ट चारित्र है। इस तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मुक्तिके अन्तरङ्ग उपाय हैं, क्योंकि ये आत्म-स्वरूप हैं ॥ ११-१२-१३ १४ ॥

एवं च कर्मणां संवरनिर्जरापूर्वकमात्मनः निजशुद्धस्व-रूपोपलब्धेः सद्दृष्टिज्ञानचारित्रम् अन्तरंग उपायः आत्मस्व-भावत्वात्। को वा बहिरंग उपाय इत्यत आह—

तदेतन्मूलहेतोः स्यात्कारणं सहकारकम् ।
यद्बाह्यं देशकालादि, तपश्च बहिरङ्गकम् ॥ १५ ॥

चन्द्रिका- एतन्मूलहेतोः एतस्य उपर्युक्तस्य रत्नत्रयात्मकस्य मूलहेतोः स्वात्मोपलब्धेरन्तरङ्गोपायत्वात्प्रधानसाधनभूतस्य यत् बाह्यं देशकालादि तपश्च सहकारकम् कारणं स्यात् तत् बहिरङ्गकम् स्वोपलब्धेः बहिरङ्ग उपायः साधनसाधनत्वात् परावलम्बनरूपत्वाच्च ।

बहिरंगकारणं निरूपयन्नाह—

द्वि० टीका—मूलहेतो रत्नत्रयरूपमुख्यकारणस्य यदेतत् यदिदं देशकालादि-कर्मक्षयोपयोगादि-देश-काल-संहननादिकं सहकारक सहकारि रूपं तत् तद्देशकालादि वाह्य बहिरङ्गकं कारण मोक्षकारणं स्यात् भवेत् । न केवल देशकालादि तपश्चाऽनशनादि तपश्चरणं-च बहिरङ्गकं वाह्यं मुक्तिकारणं स्यात् भूयात् रत्नत्रयं वहिरङ्ग सहकारि कारणं संयुक्तं मोक्षकारण भवतीति तात्पर्यम् ॥ १५ ॥

अब मुक्तिके वहिरङ्ग उपायपर प्रकाश डालते हैं—

अन्वयअर्थ—(एतन्मूलहेतोः) इस अन्तरङ्ग उपादान मूलकारण का (यत्) जो (देशकालादि) देश काल आदि (वाह्यं) बाहरी (च) और (तपः) अनशन आदि वाह्य तप (सहकारं) सहकारी (कारणं) कारण है (तत्) वह (वहिरङ्गकम्) वहिरङ्ग उपाय (स्यात्) होता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—जैसे लौकिक कार्योंको सिद्ध करनेके लिये मूल उपादान

कारण के साथ निमित्त कारणों की आवश्यकता होती है, अनुकूल निमित्त कारणों के विना मिले कार्य नहीं बनता। आत्मा चेतन रूप से सदा जीवित रहता है परन्तु संसार दशामें आत्मा को अपने जीवन के लिये आयु कर्मका उदय और श्वास (सांस) लेना, भोजन करना पानी पीना आदि बाहरी निमित्त कारण मिलना भी आवश्यक है; भोजन, जल, वायु आदि निमित्त कारण न मिलें या आयु कर्म समाप्त होजावे तो संसारी आत्मा का मरण हो जाता है, उसका पर्याय जीवन समाप्त हो जाता है। इसी कारण आत्मा को मुक्त होने के लिये भी अन्तरङ्ग उपादान कारण के साथ कर्मभूमि, दुःषम सुषमा-काल, द्विजवर्णों (मुनिदीक्षा लेने योग्य ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वर्ण) में जन्म, शुक्लध्यान करने योग्य शक्तिशाली वज्रऋषभनाराचसंहनन मुनि दीक्षा, महाव्रत, समिति, गुप्ति, इन्द्रिय संयम, प्राणिसंयम, आत्म-ध्यान की दृढता के लिये उपवास आदि बाह्य तपों का आचरण भी परम आवश्यक है। इन सहकारी कारणों के विना प्राप्त हुए अन्तरङ्ग उपाय निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की पूर्णता नहीं होती। अतः ये वहिरङ्ग कारण भी अनिवार्य हैं ॥ १५ ॥

तत्त्वस्वरूपसम्बोधनानन्तरं किं कर्तव्यं तदाख्याति—

इतीदं सर्वमालोच्य, सौस्थ्ये दौःस्थ्ये च शक्तितः
आत्मानं भावयेन्नित्यं, रागद्वेषविवर्जितम् ॥ १६ ॥

चन्द्रिका—भावयेत् पुनः २ चिन्तयेत्। कियत्कालं ? नित्यं सदैव, कम् ? आत्मानं। कथंभूतं ? रागद्वेषविवर्जितम्। रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ प्रीत्यप्रीतिभावौ। ताभ्याम् विवर्जितं रहितम्। कथम् ? शक्तितः यथाशक्ति कस्मिन् काले ? अनुकूलावसरे, न केवलं सौस्थ्ये दौःस्थ्ये च प्रतिकूला-

प्रसंगेऽपि। किं कृत्वा? आलोच्य सर्वतः विमृश्य ऊहापोह-पूर्वकं विचार्य किं तत्? इदं सर्वम्। इदं किम्? इति, पूर्वं यत् यथा प्ररूपितम् तत् तथा तेनेव प्रकारेण।

उपरि यत् यथा व्याख्यातं तत् तथैव सर्वं सम्यगालोच्य यथाशक्ति अनुकूले प्रतिकूले चावसरे स्वं रागद्वेषविविक्तमेव नित्यं भावयेत्। न केवलमनुप्रेक्षेत एव, किन्तु तथा भवितुमन्तर्बहिश्च प्रयतेत, इत्याशयः।

एवमनेकान्तरूपेण हेयोपादेयस्वरूपं परिज्ञाय निजपरमात्मतत्त्वं भेव्यं चेति निरूपयन्नाह—

हि० टीका—इदमेतत् कथितात्मस्वरूपं सर्वं समस्तं समालोच्य सम्यग्ज्ञात्वा सौख्ये सुखे दौःख्ये दुःखे च सति शक्तितः आत्मशक्त्या आत्मानं निजशुद्धबोधचिदानन्दमयं टंकोत्कीर्णज्ञायकलक्षणात्मपदार्थं नित्यं सर्वदा भावयेत्-चिन्तयेत् रागद्वेषविवर्जितं रागद्वेषादिरहितं अत्र पातनिकैव तात्पर्यं॥ १६॥

इस प्रकार आत्मा का ठीक स्वरूप समझ लेने के पश्चात् क्या करना चाहिये, सो बतलाते हैं—

अन्वय-अर्थ—(इति इदं) इस प्रकार (सर्वं) सब (आलोच्य) आलोचना-गुण दोष को विचार करके (सौख्ये) अनुकूल परिस्थिति में (च) और (दौःख्ये) दुखदायक प्रतिकूल स्थिति में (शक्तितः) यथा-शक्ति (नित्यं) सदा (रागद्वेष-विवर्जितम्)

राग द्वेष से रहित-शुद्ध (आत्मानं) आत्मा को (भावयेत्) भावना करे ॥ १६ ॥

भावार्थ—ग्रन्थकार ने पीछे जो आत्मा का स्वरूप भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों (अपेक्षाओं) से बतलाया है, उसको अच्छी तरह समझ करके सुख या दुख के समय सदा शुद्ध आत्मा का स्वरूप चिन्तवन करते रहना चाहिये जिससे चित्तमें क्षोभ उत्पन्न न हो। सुखी अवस्था में कभी राग भाव का उद्वेग न हो और दुखी अवस्था में शोक, द्वेष की भावना जाग्रत न हो, समता-भाव बना रहे। कषायभाव मन्द रहे। भव्य जीव ऐसा करनेमें प्रयत्नशील बना रहे॥ १६ ॥

एषा हि भावना कुतः कर्तव्या इति सदृष्टान्तमुपदिशति—

कषायैः रञ्जितं चेतस्तत्वं नैवावगाहते।

नीलीरक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौंकुमः ॥१७॥

चन्द्रिका—नैव अवगाहते न हि अवधारयति। किं कर्तृ ? चेतः अन्तःकरणं मानसं ज्ञानं श्रुतज्ञानमिति यावत कथंचित् तद्भिन्नत्वात् आत्मा वा। कथंभूतं चेतः ? रञ्जितं रक्तम् व्यामिश्रमभिभूतं वा। कैः ? कषायैः। मोहक्षोभरूपैः रागद्वेषैः क्रोधादिभिः। एतदेव दृष्टान्तेन समर्थयते। —हि यतः दुराधेयः दुःखेन आधातुं योग्यः सहसा आधातुं न शक्यते इत्यर्थः। कः। रागः। कथंभूतः ? कौंकुमः कुंकुमसम्बन्धी। क्व ? अम्बरे वस्त्रे। कथंभूते ? नीलीरक्ते नीलरागेनानुरञ्जिते। यथा नीले वस्त्रे कुंकुमादिरागोऽवधारयितुमशक्यः तथैव यावच्चेतः कषायानुरक्तं तिष्ठति तावत् तत् शुद्धात्मस्वरूपं तत्त्वं अवधा-

रयितु न शक्नोति । तत एव रागद्वेषविवर्जितमात्मानं नित्यं भावयेन्मुमुक्षुरित्याशयः ।

सकषायस्यात्माराधना न घटते इति दृष्टान्तेन निरूपयन्नाह

द्वि० टीका— कषायैः क्रोधाद्यैनात्मभावैः रंजितं कलुषितं नीलीरक्ते नील्या रंजिते अम्बरे वस्त्रे कौंकुमः कुंकुमस्यायं कौंकुमो रागो वर्णः दुराधेयो धर्तुमशक्यः रागद्वेषादिपरित्यागेन विना सहजपरमात्मभावना न स्यादिति तात्पर्यम् ।। १७ ।।

ऐसी भावना क्यों करनी चाहिये, इसका समाधान करते हैं—

अन्वय-अर्थ— (कषायैःरञ्जितं) राग द्वेष आदि कषायों से रंगा हुआ (चेतः) मन (तत्वं) आत्मा के शुद्धस्वरूप को (नैव) नहीं (अवगाहते) विचार पाता है, जैसेकि (नीलीरक्ते अम्बरे) नीले रंग हुए कपड़े पर (कौंकुमःरागः) कुंकुमका रंग(हि)निश्चय करके (दुराधेयः) कठिनाई से चढ़ना है ।। १७ ।।

भावार्थ—शुद्धआत्मा का स्वरूप तभी विचारा जा सकता है जब कि चित्तमें कषाय भावों का गहरा मैल न चढ़ा होवे कषाय मन्द हों, विवेक शक्ति जाग्रत हो ; जैसे कुंकुम का लाल रंग सफेद या हलके रंगे हुए कपड़े पर चढ़ सकता है, गहरे नीले रंग से रंगे हुए कपड़े पर कुंकुम का रंग नहीं चढ़ता । इस कारण सदा अपने कषाय भावों को अच्छे प्रयत्न के साथ दबा करके रखना चाहिये जिससे आत्मा का विवेक कार्य करता रहे ।। १७ ।।

इदानीं शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धये रागद्वेषरहितात्मभावनापूर्वकं त्वया कथम्भूतेन भाव्यमित्युपदिशति—

ततस्त्वं दोषनिमुक्त्यै निर्मोहो भव सर्वतः।
उदासीनत्वमाश्रित्य, तत्वचिन्तापरो भव ॥१८॥

चन्द्रिका—ततः तस्मात् कारणात्, कुतः ? यतो यथा नीलीरागादिपरिहारमन्तरा कौंकुमादिरागो वस्त्रे नाधातुम् शक्यते तथा रागद्वेषमोहरहितात्मभावनया तत्परिहारमन्तरा तत्त्वचिन्तापरता भवितुं नार्हति तस्मात् त्वं हे मुमुक्षो भव्य ! भव। कथभूतः ? निर्मोहः समस्तेभ्य इष्टानिष्टविषयादिभ्योऽन्तर्बहीरूपेभ्यो मोहविकल्पेभ्यः निर्गतः पृथग्भूतः। एतदनन्तर पुनरपि भव। कथंभूतः ? तत्त्वचिन्तापरः। तत्त्वं निजशुद्धात्मस्वरूपं तस्य चिन्ता चिन्तनम्—विषयान्तरेभ्यो व्यावृत्य तत्रैव एकाग्रतया स्थितिः तत्र परः लीनः। किं कृत्वा ? आश्रित्य अवलम्ब्य किं ? उदासीनत्वम् उपेक्षाभावम्

अयमाशयः—निजशुद्धज्ञानानन्दस्वरूपसिद्धये सर्वतः प्राक् आत्मनः रागद्वेषमोहादिदोषपरिहाराय सर्वेभ्य इष्टानिष्टविषयेभ्यस्तथा विकल्पेभ्यश्च मोहं त्यक्त्वा शुद्धात्मभावना कर्तव्या। तत्सिद्धौ शुभविकल्पेभ्योऽप्यौदासीन्यमाश्रेयम्। पुनः सर्वथा अप्रमत्तो भूत्वा निर्विकल्पसमाधिसिद्ध्यर्थं यत्नं कुरु।

पुनरपि तत्वभावनोपायमाह—

ततस्तस्मात् कारणात् त्वमात्मनो दोषनिमुक्त्यै रागद्वेषादिदोषपरिहारार्थं सर्ववस्तुषु निर्मोहो मोहरहितो भव। उदासीनत्वं शत्रुमित्रेषु माध्यस्थ्यं आश्रित्य उपढौक्य तत्व-

चिन्तापरः आत्मस्वरूपानुभवनतत्परोभव। निर्मोह-माध्यस्थ-भावनया विना तत्वसंवित्तिर्नागच्छतीति तात्पर्यं। १८॥

फिर तत्वज्ञानी को कैसा बनना चाहिये, सो बतलाते हैं—

अन्वय अर्थ—(ततः) इस कारण (दोषनिमुक्त्यै) रागद्वेष क्षोभ, व्याकुलता, क्रोध, आदि दोषों से छूटने के लिये (सर्वतः) समस्त इष्ट अनिष्ट विषयोंसे (त्वं) तू (निर्मोहः) मोह ममता रहित (भव) बन (उदासीनत्वं आश्रित्य) शरीरसे, संसार के विषयभोगों से उदासीन बनकर (तत्वचिन्तापरः) आत्मतत्व के चिन्तवनमे तत्पर (भव) होजा॥ १८॥

भावार्थ—आत्मामें विवेक भावका लुप्त करने वाला कषाय भाव तब ही प्रबल होता है जबकि आत्मा इन्द्रियों या शरीर के इष्ट यानी-प्रियविषयोंमें राग भाव करता है और इन्द्रियां तथा शरीरके अनिष्ट यानी अप्रिय विषयोंमें द्वेष करता है। यदि सांसारिक,शारीरिक तथा ऐन्द्रिय (इन्द्रियों के) विषयों मे इष्ट अनिष्ट की विचारधारा छोडकर आत्मा उदासीन वन जावे तो अपना आत्म-स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है, आत्माको कषाय मैलसे स्वच्छ होकर संसारसे छुटकारा मिल सकता है॥ १८॥

इदानीं प्रकारान्तरेण कर्तव्यं विज्ञापयति–

हेयोपादेयतत्वस्य, स्थितिं विज्ञाय हेयतः।
निरालम्बोभवान्यस्मादुपेये सावलम्बनः॥ १९॥

चन्द्रिका—हेयं च उपादेयं च तयोः समाहारः एवंभूतं यत्तत्वे तत् हेयोपादेयरूपं तत्त्वं। तस्य स्थितिं स्वरूपं काल-मर्यादां च विज्ञाय बुध्वा एतयोर्हेयतः त्याज्यात्परस्मात्अन्य-

स्मात् तत्त्वात् निरालम्बः तदवलम्बनरहितः, उपेये ग्राह्ये निजरूपे सावलम्बनः समाश्रयो भव।

तत्त्वं हि द्विधा हेयम् उपादेयम् च। तत्र हेयतत्त्वस्य आलम्बनं त्यक्त्वा उपादेयतत्त्वं समाश्रय। एवमुत्तरोत्तर-शुद्धशुद्धतरशुद्धतमोपादेयतत्त्वाश्रयणेन निजनिर्विकल्पज्ञानानन्द-स्वरूपध्याने स्थिरे सति परं तत्त्वं सर्वथा मुच्यते निजं शुद्धं शाश्वतिकं ज्ञानानन्दस्वभावं तु अवशिष्यते स्वोपलब्धिर्भवतीति आशयः।

हेयोपादेयं ज्ञात्वा हेयं त्यक्त्वा उपादेयं स्वीकुर्विति कथयन्नाह—

द्वि० टीका—हेयोपादेयतत्वस्य संसारसंसारकारणं मोक्षमोक्षकारणरूपं विज्ञाय ज्ञात्वा, हेयतः–हेयरूपं ज्ञात्वा हेयतः हेयरूपसंसारकारणात् निरालम्बः निराश्रयः भव। उपेये–उपेयः उपादेयरूपमोक्षमोक्षकारणं तस्मिन् स्वस्वरूपे सावलंबनमाश्रयो भव त्वं पानिकार्थोऽत्र तात्पर्यं ॥१९।

अब दूसरी तरह से इसी बात को समझाते हैं—

अन्वय-अर्थ—(हेयोपादेयतत्वस्य) हेय और उपादेय तत्वकी (स्थिति) स्वरूपको विज्ञाय) जानकरके (अन्यस्मात् हेयतः) अन्य पदार्थ-रूप हेय–यानी त्याग देने योग्य तत्वका (निरालम्बः भव) आश्रय लेना छोड दो (उपेये) उपादेय—ग्रहण करने योग्य अपने आत्म तत्व का (सालम्बनः) आश्रय ग्रहण करो। । १६ ॥

भावार्थ—संसारमें दो प्रकार के तत्त्व (पदार्थ) हैं— १-हेय, २-उपादेय। जो तत्त्व आत्माका अहित करने वाले हैं, इसी कारण ज

त्याग करने योग्य हैं, वे हेय तत्त्व हैं और जो आत्मा के लिये हितकारी हैं, इसी कारण ग्रहण करने योग्य हैं, वे उपादेय तत्त्व हैं। सात तत्त्वों में अजीव आस्रव, बन्ध तत्व हेय हैं क्योंकि उनके कारण आत्मा को संसार भ्रमण करना पड़ता है, संवर और निर्जरा तत्व उपादेय हैं क्योंकि उनसे कर्मों की शक्ति क्षीण होती है, आत्माकी शक्ति प्रबल होती है, अतः संवर और निर्जरा के कारणों का आश्रय लेकर आत्मा के गुणों का विकास करना चाहिये जिससे कि कालान्तर में मोक्ष तत्व की प्राप्ति हो। आस्रव और बन्ध के कारणों का आश्रय यथाशक्ति छोडते जाना चाहिये ॥ १६ ॥

पुनरपि स्वोपलब्धये प्रकारान्तरेण उपायंद र्शयति—

स्वं परं चेति वस्तु त्वं वस्तुरूपेण भावय।
उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते शिवमाप्नुहि ॥ २० ॥

चन्द्रिका—त्वं भावय हे भव्य! पुनः २ चिन्तय, किं? वस्तु तत्त्वं, केन प्रकारेण? वस्तुरूपेण वस्तुनः रूपं वस्तुरूपं याथात्म्यं तेन। तत्कथं? स्वं परं च इति। स्वं निजं चेतनात्मकं सर्वथोपादेयम्। परमतो भिन्नं सर्वमपि चेतनाचेतनात्मकम्। एवं कृते सति किं स्यात्? अत आह आप्नुहि प्राप्स्यसीत्यर्थः किं? शिवं मोक्षं निजशुद्धस्वरूपं कदा? उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते। उपेक्षा रागद्वेषमोहराहित्यम् तस्या भावना पुनः २ प्रवर्तनसंजातसंस्कारः। तस्या उत्कर्षो वृद्धिः तस्य पर्यन्ते अन्तिमे स्थाने जाते सति।

अयमाशयः —मोहं रागद्वेषादिकं चाकृत्वा सर्वमपि वस्तु

तत्स्वरूपमात्रेण बोध्यम् श्रद्धेयम् च । न केवलं बोध्यं श्रद्धेयं च पुनः २ यथाशक्ति सर्वदैव चिन्तनीयम् च । एवं सति स्वस्माद्भिन्ने सर्वस्मिन् वस्तुनि उपेक्षाभावः सेत्स्यति । अन्तिमस्थानपर्यन्तं तत्सिद्धौ तु शिव- स्वरूपमात्मानं प्राप्स्यसीति ।

यद्यपि निजात्मद्रव्यं उपादेयं तथापि तत्रासक्तिं मा विधेहीत्यावेदयति—

(तथाप्यतीव तृष्णा वा, हन्त मा भूत् त्वात्मनि ।
यावत् तृष्णा प्रसूतिः स्यात् तावन्मोक्षं न यास्यसि ॥२०॥
(पाठान्तरमिति)

द्वि० टीका—तथापि एवं सत्यपि हन्त अहो आत्मन्. तव ते आत्मनि निजशुद्धबुद्धस्वरूपे तृष्णा माभूत् मा भूयात् यावत् कालं तृष्णाप्रसूतिः कांक्षोत्पत्तिः स्याद् भवेद् तावत् कालं मोक्ष मुक्तिपदं न यास्यसि न गमिष्यसि परं वीतरागपरिणामेन विना मोक्षो न घटत इति तात्पर्यं ॥ २० ॥

अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त करने के लिये प्रकारान्तर से अन्य उपाय बतलाते हैं—

अन्वय-अर्थ—(त्वं) तू (स्वं) अपने आत्म तत्व को (च) और (परं) अन्य वस्तुको (वस्तुरूपेण) वस्तु-स्वभावसे (भावय) भावना कर। (इति) इस प्रकार (उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते) उपेक्षा यानी-रागद्वेष, रहितपना भाव की पूर्णवृद्धि हो जाने पर (शिवम्) मोक्ष को [आप्नुहि] प्राप्त कर ॥ २० ॥

भावार्थ—निज आत्म-तत्वको अपने रूप में और शरीर, पुत्र,

स्त्री, मित्र तथा धनआदि चेतन अचेतन पदार्थोंको अन्य पदार्थके रूपमें समझना चाहिये। पर-पदार्थ जब अपना नहीं है तब उसके साथ मोह ममता राग भाव करना व्यर्थ है, पर-पदार्थ को अपने आत्मा से भिन्न समझ लेने पर उससे द्वेष घृणा करना भी निरर्थक है। इस तरह उनसे राग,द्वेष भावका त्याग करके उपेक्षा भाव रखना चाहिये। उपेक्षा भाव जितना बढता जाता है उतना ही आत्मतत्व निर्मल निरा-कुल बनता जाता है और मुक्ति निकट आती जाती है। जब वह निर्मोह उपेक्षा भाव पूर्ण वृद्धि–चरमउत्कर्ष पर पहुंच जाता है तब आत्मा कर्म-बन्धन तथा संसार–भ्रमण से मुक्त हो जाता है। उसी उपेक्षा भाव के द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा ग्रन्थकार ने की है॥ ०॥

उपेक्षाभावना हि कदापर्यंतं याति इत्यागमात्प्रदर्श्य समर्थ्य च तद्विरुद्धा हि कांक्षा कुतो न कर्तव्या इति दृढयति–

यस्य मोक्षेऽपि नाकाङ्क्षा स मोक्षमधिगच्छति ।
इत्युक्तत्वाद्धितान्वेषी काङ्क्षां न क्वापि योजयेत् २१

चन्द्रिका– न योजयेत् संलग्नां न कुर्यात्, कां? काङ्-क्षामभिलाषाम्, क्व? क्वापि, स्वस्माद्भिन्ने परत्र सर्वत्रापि बाह्याभ्यन्तरविषयमात्रे। कः? हितान्वेषी, हितं मोक्षं निजशु-द्धस्वरूपोपलम्भमन्विच्छति वाञ्छति गवेषयति वा इति हितां-न्वेषी। शाश्वतिक-निर्बाधनिजटङ्कोत्कीर्णज्ञानानन्दस्वरूपोप-लिप्सुः। कुत एवमितिचेत् इत्युक्तत्वात् इति एवं प्रकारेण उक्त-त्वात्। एतद्धि सार्वज्ञं वच इति सर्वज्ञकल्पैर्गणधरादिभिरागमे निर्दिष्टत्वात्। किं तत्सार्वज्ञं वच इति चेत् "यस्य मोक्षेऽपि

नाकाङ्क्षा स मोक्षमधिगच्छति" इति, अधिगच्छति प्राप्नोति, कं ? मोक्ष सर्वकर्मविप्रमोक्षं निजशुद्धचिदानन्दस्वरूपोपलम्भं वा कः ? सः । सः कः ? यस्य न,नास्ति, का ? आकाङ्क्षा स्पृहा लिप्सा वा । क्व ? मोक्षेऽपि । अपि शब्दात् पुण्यकर्मोदयजनितेष्वाभ्युदयिकेषु पदेषु तु किं वाच्यम् । तदभिलाषायास्तु प्रागेव दूरोत्सारितत्वात् ।

सर्वथा निरीहवृत्तिमन्तरा निर्विकल्पसमाधिबलेन न हि कश्चिदपि साधुरेकान्तेन सर्वकर्माणि निर्जीर्य निजविशुद्धज्ञानानन्दस्वभावेऽवस्थातुं शक्नोतीति हेतोः सर्वतः मोहोदयजन्या परूपा काङ्क्षा त्याज्या, तत्सिद्धये च बाह्येषु इन्द्रियानिन्द्रियविषयेष्विष्टानिष्टभावनामपाह्य आत्मभावना उद्योतोद्यवननिर्वाहसिद्धिनिस्तरणक्रमेण उपेक्षोत्कर्षपर्यन्तम् नेया चेति भावः

कुत एतदित्युक्ते प्रत्युत्तरमाह—

द्वि० टीका—यस्य परमयोगीश्वरस्य मोक्षेऽपि निर्वाणेऽपि कांक्षा तृष्णा नास्ति सः निर्विकल्पपरिणामपरिणत: मोक्षं अविनश्वरस्थानं अधिगच्छति इत्युक्तत्वात् एवं कथनात्-हितान्वेषी मोक्षसुखाभिलाषी भवान् क्वापि चेतनाचेतनात्मके वस्तुनि कांक्षा तृष्णां न योजयेत् न युंजीत ।

उक्तं च-परमात्मप्रकाशे —

मोक्खु म चिन्तहि जोइया मोक्खु ण चिंतिउ होई ।
जेण णिवद्धउ जीवडउ मोक्खु करे सई सोई ॥

अब यह बतलाते हैं कि सब प्रकार की इच्छा का त्याग कर देना चाहिये—

अन्वय-अर्थ — (यस्य)जिसके (मोक्षेअपि) मोक्ष में भी (आकांक्षा) अभिलाषा (न) नहीं होती (सः) वह भव्य मनुष्य (मोक्षं) मोक्ष को (अधिगच्छति) प्राप्त कर लेता है। (इति) ऐसा (उक्तत्वात्) सर्वज्ञ देव द्वारा अथवा आगम द्वारा कहा गया है, इस कारण (हितान्वेषी) अपना हित खोजने वाला व्यक्ति (अपि) किसी भी विषयमें (आकांक्षां) इच्छा को (न योजयेत) न करे।

भावार्थ—किसी भी पद को पानेकी या किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा करना उचित नहीं है। विशेष करके आत्महित चाहने वाले व्यक्ति को तो सांसारिक इच्छा तो सर्वथा करनी ही नहीं चाहिये, इतना ही नहीं, वल्कि उसे मोक्ष की इच्छा भी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि 'किसी भी तरह की इच्छा-अभिलाषा-आकांक्षा (ख्वाहिश) मोह की क्रिया है। जब तक मोह भाव रहेगा तब तक आत्मा मुक्त कैसे हो सकता है ? इसी कारण सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान ने अपनी वाणी द्वारा कहा है और गणधर, आचार्यों आदि ने आगम ग्रन्थों में लिखा है कि "मोक्ष उसी को प्राप्त होती है जिसको मोक्ष की भी इच्छा नहीं होती।" इस कारण आत्म-हितैषी को किसी भी तरह की इच्छा न करनी चाहिये ॥ २१ ॥

प्रकारान्तरेण कांक्षां त्यक्तुं दिशति—

सापि च स्वात्मनिष्ठत्वात्सुलभा यदि चिन्त्यते ।
आत्माधीने सुखे तात, यत्नं किं न करिष्यसि ।२२।

चन्द्रिका— अपि च प्रकारान्तरेण काङ्क्षायाः परिहारं निर्दिशतीत्यर्थः। यदि विचार्यते पुनः पुनः विचारविषयीक्रियते चेत् सर्वैरपि संज्ञिभिरिति शेषः का? सा पूर्वोक्ता काङ्क्षा, कथभूता? सुलभा अक्लिष्टा। कुतो हेतोः? स्वात्मनिष्ठत्वात् स्वस्यात्मनि तिष्ठतीति हेतोः। तर्हि हे तात! किं न करिष्यसि अवश्यं करिष्यसि, अवश्यमेव कुर्या इत्यर्थः कं? यत्नं। क्व? सुखे कथम्भूते? आत्माधीन निजाश्रिते स्वैरे।

काङ्क्षा हि सर्वसंसारिणां स्वभावत एव प्रवर्तते तेषामनादितः मोहोदय-विशिष्टत्वात्। अत एव सा दुस्त्यजा। परन्तु यावत् काङ्क्षा तावत् संसारदुःखपरम्परा वा। दुःखनिवृत्त्यै अनन्त–शाश्वतिकसुखस्वरूपशुद्धात्मलब्धयें तु सा सर्वात्मना त्याज्यैव। ततः किं कर्तव्यमिति जिज्ञासा परिहाराय ग्रन्थकर्ता 'हे तात' इति कोमलालाप-पूर्वकं भव्यमभिमुखीकृत्य सम्यगुपायमिह दर्शयति। हे भव्य! केवलमिह प्राक्काङ्क्षाया विषयपरिवर्तनं विधेयम्।

मोहक्षोभविषयेषु बाह्येषु पदार्थेषु प्रवर्तमानां कांक्षां ततो निवर्त्य आत्माधीनां विधेहि, शुद्धात्मसुखविषयिणीं कुरु। एवं यत्ने कृते त्वं निरीहवृत्तिभूत्वा एकत्ववितर्क-ध्यानयोग्यतां प्रसाध्य तद्ध्यान-सिद्ध्या च संसरणकारणानि तिरस्कृत्य सर्वत आत्माधीनं सुखं स्वभावत एव प्राप्स्यसि इति स्वात्मनिष्ठ-

त्वादेव हेतोर्मुमुक्षुणा त्वया बहिर्विषयेषु प्रवर्तमाना काङ्क्षा केवलम् अन्तरात्मसुखविषयिणी कर्तव्या। शुद्धोपयोगसिद्धेःप्राक् शुभोपयोगस्यापरिहार्यत्वात् सुकरत्वाच्च।

भेदज्ञानपूर्विकोपेक्षा मोक्षं ददातीति आख्याति—

द्वि० टीका— इति अनेन कथितक्रमेण स्वम् आत्मानं परम् चेति भिन्नमपि वस्तुद्रव्यं वस्तुरूपेण सत्यरूपेण चिन्तय भावय उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते सर्व-वस्तुषूदासीन-भावनाप्रकर्षस्यावसाने शिव मोक्षं आप्नुहि प्राप्नुहि पात-निकार्थोऽस्य भावार्थः ॥ २२ ॥

अब अन्य प्रकार से इच्छा को त्याग देने का उपदेश करते हैं—

अन्वय-अर्थ— (सा अपि) वह इच्छा भी (यदि) यदि (स्वात्मनिष्ठत्वात्) अपने आत्मा में ही होने के कारण (सुलभा) सुलभ (चिन्त्यते) समझते हो तो (तात!) हे तात ! (आत्माधीने) स्वाधीन (सुखे) सुख पाने में (यत्नं) प्रयत्न (किं न करिष्यसि) क्या तुम न करोगे ? यानी-अवश्य करोगे।

भावार्थ—समस्त संसारी जीव अनादिकालसे मोह के कारण अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त करने की कोई न कोई इच्छा किया करते हैं क्योंकि इच्छा अपने ही आत्मा में उत्पन्न होती है, अतः इच्छा करना कठिन नहीं है, सरल बात है। परन्तु सांसारिक विषय भोगों की इच्छा से सब तरह आत्मा में अशान्ति होती है। जिस विषय की इच्छा होती है, उस विषय को पानेके लिये बहुत भारी परिश्रम करना पड़ता है, यदि परिश्रम करने पर भी वह विषय प्राप्त नहीं होता तो बहुत भारी मानसिक दुख होता है, यदि वह विषय मिल जाता है तो उसके भोगने से तृप्ति नहीं होती, तृष्णा और

बढ़ती जाती है। इस कारण सांसारिक इच्छाओं को छोड़कर भव्य-जीवको आत्म-सुख प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिये। परन्तु शुक्ल ध्यान की दशामें वह इच्छा भी त्याग देनी पड़ती है; या वह इच्छा उस निर्विकल्प ध्यान में स्वयं छूट जाती है। तब अनन्त सुख मिलता है। इस कारण ग्रन्थकार बड़ी मीठी कोमल भाषा 'में तात' शब्द द्वारा सम्बोधन करके कहते हैं कि तू स्वाधीन सुख प्राप्त करने का यत्न कर ॥ २२ ॥

ततः परं केन क्रमेण किं करोमीति जिज्ञासां मनसि निधाय शुद्धोपयोगस्थितेः क्रमं दर्शयति—

स्वं परं विद्धि तत्रापि, व्यामोहं छिन्धि किन्त्विमम् ।
अनाकुलस्वसंवेद्ये, स्वरूपे तिष्ठ केवले ॥२३॥

चन्द्रिका—बाह्यविषयिणीमाकाङ्क्षामन्तरात्मात्मसुखविषयिकां विधातुं उपेक्षाभावनामुत्कर्षपर्यन्तं नेतुं च सर्वतः पूर्वं विद्धि अवबुध्यस्व, किं? स्वं निजमात्मतत्त्वम्, तथा परमात्मनो भिन्नं सर्वमपि तत्त्वम्। एवं भेदज्ञानाभ्यासे सति पुनः किं करोमीत्यत आह—किन्तु, भेदज्ञानाभ्यासे जातेऽपि पुनः कर्तव्यविशेषं समाचर। किं करोमि? छिन्धि द्वैधिभावं नय सर्वथा अपाकुरु, किं? इमम् पूर्वमुपादेयतया निर्दिष्टम्, किम् व्यामोहम् इदं—स्वं, इदं परमिति पक्षग्रहम्। क्व? तत्रापि भेदज्ञानेऽपि।

आत्मसुखविषयिण्यां आकाङ्क्षायां क्रियमाणस्य यत्नस्य उत्पत्तिस्थितिवृद्ध्यर्थं पूर्वं स्वं परं च तत्त्व विद्धि तदनन्तरं

तयोः "अहमहमिमे, इमे नाहमेतेषां नैते मम, अहमेभ्यः सर्वथा भिन्नः इमे तु सर्वथा मत्तो भिन्नाः "एवमाकारकम् विकल्प-व्यामोहम् दूरीकुरु। एवं सति उपयोगं कुत्र नयामीति समाधानाय विधिविशेषं दिशति। तिष्ठ स्थिरीभव उपयोगं निरोधय, कुत्र? स्वरूपे, स्वस्य रूपं स्वरूपं ज्ञानाद्यात्मकं तत्र। कथंभूते? केवले अन्यनिरपेक्षे विकल्पादिकारणावलम्बनरहिते नयनिक्षेपानुयोगाद्याश्रयशून्ये च। पुनः कथंभूते? अनाकुल-स्वसंवेद्ये, न आकुलः संक्लिष्ट इत्यानाकुलः स चासौ स्वश्च तेन संवेद्ये, समस्ताभिराकुलताभी रहितेनैवात्मनानुभवयोग्ये।

हेयोपादेयरूपस्वपरतत्वं परिज्ञाय हेयं त्यक्त्वा उपादेयतत्वमाश्रयणीयम्। उपादेयेऽपि रागद्वेषविकल्पं त्यक्त्वा उपेक्षा भावना साध्या। एतदर्थं बाह्यविषया काङ्क्षा हेया। सापि पुनः शुद्धात्मविषयिणी विधेया। तत्रापि समस्ताकुलतानिमित्तं व्यामोहरूपं पराश्रयमतद्रूपं भेदसाधनं च अपसार्य शुद्धे निज-स्वरूपे एव उपयोगे स्थिते पराणि क्षीयन्ते निज-ज्ञानानन्दात्मकः आत्मा तु स्वयमवतिष्ठते, इति तात्पर्यम्।

मोक्षपददानसमर्थोपेक्षा कथं स्यादित्युत्तरमाह—

द्वि० टीका—सापि च उपेक्षाभावनापि च स्वात्म-निष्ठत्वात् स्वस्वरूपनिष्ठत्वात् सुलभा सुप्राप्या चिन्त्यते ज्ञायते यदि भवति चेत् आत्माधीने स्वाधीने फले उपेक्षा भावनात्मकफले तात! अहो पितः यत्नं उद्योगं किं न करि-

च्छयसि किमिति न करोसि त्वं ईदृग्भूतभावनायाम् यत्नं कुर्विति तात्पर्यम् ॥ २३ ॥

अब शुभोपयोग से शुद्धोपयोग में आने का क्रम बतलाते हैं—

अन्वय-अर्थ—(स्वं) अपने आत्मा को, (परं) शरीर आदि अन्य पदार्थ को (विद्धि) समझो (किन्तु) किन्तु (तत्र अपि) ऐसा होने पर भी (इयं) इस भेदभावात्मक (व्यामोहं) पक्ष को भी (छिन्धि) दूर करदो। (केवले) केवल (अनाकुलत्वस्वसंवेद्ये) निराकुलता रूप स्वानुभव से जानने योग्य (स्वरूपे) अपनेरूप में (तिष्ठ) ठहर जाओ।

भावार्थ — पहले आत्मा और शरीर आदि पर-पदार्थ का स्वरूप समझ कर भेद-विज्ञान प्राप्त करना चाहिये जिससे पर पदार्थों से रुचि हट करके अपने आत्मा में लगे। परन्तु इसके बाद "यहमेरा-आत्मा है, यह हेय पर-पदार्थ है" इत्यादि प्रकार का पक्ष भी छोड़ देना चाहिये और निर्विकल्प रूपसे अपने आत्मस्वरूप में ठहर जाना चाहिये। निर्विकल्प आत्म-स्वरूपमें ठहरना ही शुक्लध्यान है, शुद्ध उपयोग है। स्व-पर का भेद-विज्ञान शुभोपयोग है। इस तरह शुभोपयोग से शुद्धोपयोग में आना चाहिये। ॥ २१ ॥

अनाकुलस्वसंवेद्यकेवलस्वरूपस्थितया किं सिद्ध्यति ? इति ग्रन्थस्यान्ते साक्षात्कारणप्रदर्शन-पूर्वकमन्तिमं साध्यं फलं प्रदर्शयति—

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्याविन-
श्वरम्।
स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत् स्वोत्थमानन्दमामृतं पदम् ॥

चन्द्रिका—लभेत् प्राप्नुयात् कः ? स्वः अयं ज्ञानलक्षणः स्वतन्त्र आत्मा कं ? पदम् अवस्थाम् कथंभूतम् ? स्वोत्थम् स्वस्मात् आत्मन उत्था उत्पत्तिर्यस्य स तम् आत्मोद्भूतम्, पुनः कथंभूतम् ? आनन्दम् सम्यक्रूपमृद्धाव्याबाधाल्हादरूपम् पुनः कथंभूतम् ? अमृतम् अपूर्वजरामरणहरसंतर्पकस्वभावम् पुनः कथम्भूतम् ? अविनश्वरम् अक्षयम् । कस्य ? स्वस्य आत्मनः । किं कृत्वा ? ध्यात्वा एकाग्रीभूय सततश्चिद्-व्यापारं निरुध्यात्मन्येव स्थिरीकृत्य । कं ? स्वम् प्रमित्याश्रयभूतम् आत्मानम् । कथंभूतम् ? स्थितम् स्वयंसिद्धनिश्चलाविकृतस्थिरात्मस्वरूपम् केन ? स्वेन करणभूतपरिच्छेदकपरिणामेन । कस्मै ? स्वस्मै सम्प्रदानभूताचरक्षणवर्तिनिजपरिणामाश्रयफलरूपाय । कस्मात् ? स्वस्मात् पूर्वपर्यायापायोपादानभूतध्रुव-स्वभावाश्रय-स्वरूपात् । कस्मिन् ? स्वस्मिन् असाधारणकारणरूपकरणशक्त्याधारे निजस्वरूपे ।

अभेदकारकरूपेण ध्याने सत्येवात्मनः सर्वथा परसम्बन्धनिवृत्तौ स्वरूपेऽवस्थानसंभवात् स्वस्याक्षयानन्तज्ञानानन्दामृतपदलाभो भवतीति तदेव प्रार्थ्यं साध्यं चेति भद्रम् ।

षट्कारकरूपेण आत्मद्रव्यं विशेषयति

द्वि० टीका—स्वस्मात् आत्मद्रव्यात् स्वस्मै आत्मस्वरूप-प्राप्त्यर्थं स्वस्यात्मनः अविनश्वरे अक्षये स्वस्मिन्

आत्मनि स्थितं स्वं आत्मस्वरूपं स्वस्तत्त्वं कर्त्ता स्वेन आत्मना कृत्वा निर्विकारपरिणामेन ध्यात्वा संचिन्त्य इत्थं अनेन प्रकारेण अनन्तसुखस्वरूपं अमृतपदं मरणादि-दुःखरहितं मुक्तिस्थानं लभस्व प्राप्नुहि क्रियाकारकसम्बन्धो व्यवहारेण यद्यपि निरूपितो निश्चयेन नास्तीति तात्पर्यम् ॥ २४ ॥

अब श्री अकलंकदेव ग्रन्थका उपसंहार करते हुए अन्तमें लिखते हैं—

अन्वय-अर्थ —(स्वः) अपना आत्मा (स्वेन) अपने द्वारा (स्थितं) स्थित (स्वं) अपने स्वरूपको (स्वस्मै) अपने लिये (स्वस्मात्) अपने आत्मासे (स्वस्य) अपने आत्माका (स्वोत्थं) अपने आत्मासे उत्पन्न हुआ (अविनश्वरम्) अविनाशी (आनन्दामृतं-पदम्) आनन्द-अमृतमय पद (स्वस्मिन्) अपने आत्मामें (ध्यात्वा) ध्यान करके (लभेत्) प्राप्त करे।

[illegible]—श्री भट्टअकलंकदेवने इस श्लोकमें सातों विभक्तियों और छहों कारकोंके रूपमें आत्माको रखकर परम अविनश्वर आनन्द प्राप्त करनेकी प्रेरणा की है।

यह आत्मा शुद्धोपयोगके रूपमें अपने आत्माको अपने ध्यान द्वारा अपने लिये अपने से (पञ्चमी विभक्तिके रूपमें स्वयं अपनी अपनी पूर्ण पर्याय को छोड़कर अपने ध्रुव उपादानसे) अपने आत्मा से उत्पन्न हुए परम अविनश्वर आनन्दरूपी अमृत को (जन्म मरण-रोग दूर करने वाले अमृत रूपको) अपने आत्मामें ही एकाग्रचित्तवृत्ति लगाकर प्राप्त करे, ऐसी हितकारी प्रेरणा ग्रन्थकार करते हैं ॥ २४ ॥

एवं स्वरूपसम्बोधनं विधाय तदध्ययने फलप्रदर्शनपूर्वकं भव्यान् प्ररोचयति—

इति स्वतत्त्वं परिभाव्य वाङ्मयम्,
य एतदाख्याति शृणोति चादरात्।
करोति तस्मै परमार्थसम्पदम्,
स्वरूपसम्बोधनपञ्चविंशतिः ॥ २५ ॥

चन्द्रिका— करोति विदधाति का ? स्वरूप सम्बोधन-पञ्चविंशतिः। स्वस्यात्मनः रूपं याथात्म्यस्वरूप तस्य संबोधनं सम्यग्ज्ञापनं तत्र प्रवृत्ता पञ्चविंशतिः इयम् पञ्चविंशति-पद्यप्रमाणा सदर्भरूपा रचना। किं करोति ? परमार्थसम्पदम् परमश्चासौ अर्थश्च परमार्थः स एव सम्पत् ताम्। सर्वोत्कृष्टस्वाधीनानन्तज्ञानानन्दामृतपदोपलब्धिमित्यर्थः, कस्मै ? तस्मै। तस्मै कस्मै ? य आख्याति प्रकथयति वाचयति, न केवलमाख्याति शृणोति च अवगृह्णाति च। कथम् ? आदरात् सविनयम्। किम् ? एतत् वाङ्मयम् शब्दसन्दर्भम्। किं कृत्वा परिभाव्य परिशील्य, किम् ? स्वतत्त्वं निजात्मस्वरूपं। कथं ? इति पूर्वोक्तप्रकारेण।

यः सविनयं स्वरूपबोधकमेतत् ग्रन्थसन्दर्भमधीत्यात्रोक्तमात्मतत्त्वं पुनः पुनर्भावयति ज्ञात्वा श्रद्धायाचरति मनसाऽभ्यस्यति परेभ्यो भव्येभ्यो व्याख्याय बोधयति, यश्च श्रोता सादरम् शृणोति, सः तत्फलेन पुण्याभ्युदयान् भुक्त्वाऽन्ते कर्माणि संवृत्य निर्जीर्य च परमनिःश्रेयसरूपमात्मलीनं ज्ञाना-

नन्दपदम् चिरमनुभुञ्जानः सदा सिद्धे स्वरूप एव तिष्ठतीति एपा स्वरूपसम्बोधनपञ्चविंशतिका मुमुक्षुभिर्निरन्तरम् मनसा वचसा, वपुषा, अनुभाव्या, व्याख्येया, श्रोतव्या चेति शुभम्।

उपसंहारद्वारेण ग्रन्थनाम ग्रंथाध्ययनफलं कथयति—

द्वि० टीका—इति अनेन कथितक्रमेण स्वतत्त्वं आत्मतत्त्वं परिभाव्य विचार्य ये केचनात्मभावना रताः। कृतादराः कृतानुरागाः सन्तः वाङ्मयं वाचा निर्वृत्तमिदं शास्त्रं पठन्ति उच्चारयन्ति च परपठनकाले शृण्वन्ति च तेषां कृतादराणां स्वरूपसम्बोधनपञ्चविंशति आत्मस्वरूपप्रद्योतकपंचविंशतिश्लोकरूपशास्त्रं परमात्मसम्पदं परमात्मप्राप्ति करोति विदधाति परं मोक्षार्थिनो हेयोपादेयरूपबहिस्तत्त्वमन्तस्तत्त्वं परमतत्त्वं व्यवहारनिश्चयाभ्यां ज्ञात्वा विश्ववस्तुरूपे अविचलास्ति चेति तात्पर्यं ॥ २५

स्वरूपसम्बोधनपंचविंशतिः पदार्थ-कथनात्मिका वृत्तिः समाप्ता।

अब ग्रन्थको समाप्त करते हुए ग्रन्थकार इस ग्रन्थके स्वाध्यायका फल बतलाते हैं —

अन्वय-अर्थ—(इति) इस पूर्वोक्त प्रकार (यः) जो व्यक्ति (एतत्) इस (वाङ्मयम्) वचनमय (स्वतत्वं) अपने आत्मतत्व को (परिभाव्य) परिशीलन करके (आदरात्) आदरसे बांचता है (च) और-या (शृणोति) सुनता है, (उसके लिये) (स्वरूपसम्बोधनपंचविंशतिः) २५ २५ श्लोकवाला, आत्म-स्वरूपका बोध कराने वाला स्वरूपसम्बोधन ग्रंथ (परमार्थसम्पत्) उत्कृष्ट आत्म-सम्पत्ति का (करोति) करता है-प्रदान करता है ॥ २५ ॥

भावार्थ — इस २५ श्लोकोंके छोटेसे स्वरूपसंबोधन ग्रंथ द्वारा शुद्धआत्माका स्वरूप और उस शुद्ध आत्म-तत्वको प्राप्त करने का उपाय ग्रंथकार ने बड़े सुन्दर-सरल, संक्षेपसे प्रगट किया है। जो व्यक्ति इसका आदरके साथ वाचन, श्रवण, मनन करे उसके आत्मामें ऐसे शुभसंस्कार उत्पन्न होते हैं जिनके कारण वह कालांतरमें अपना शुद्ध आत्म-स्वरूप-मोक्षलक्ष्मी प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार स्वरूपसंबोधन ग्रंथकी सरल हिंदी टीका भाद्रपद सुदी दशमी बुधवार, वीर सं० २४६३ दिनाङ्क १३ सितम्बर १६६७ को (दशलक्षण पर्वमें प्रवचनके लिये आनेके कारण) दुर्गकी जैन धर्मशालामें समाप्त हुई।

सुधारणीय भूल

द्वितीय संस्कृत टीकाकार ने पृष्ठ २८० पर पाठान्तर रूपसे २० नं० का एक अन्य श्लोक लिखकर उसकी टीका लिखी है। इस कारण प्रमादवश २० वें मूल श्लोककी द्वि० संस्कृत टीका २२ वें श्लोकके नीचे छप गई है। २२वें श्लोककी द्वि० टीका२३ वें श्लोकके नीचे छप गई। अत एव २३ वें श्लोककी अवशिष्ट द्वि० टीका निम्नलिखित है। पाठक महानुभाव उसे यथास्थान पढ़ने का प्रयास करें।

पुनरप्यात्मनि प्रवृत्तिं कारयति—

द्वि० टीका— स्वं स्वद्रव्यं विद्धि जानीहि किन्तु पुनस्तत्रापि स्वपर-वस्तूनि इमं अमुं व्यामोहं महास्नेहं छिन्धि विनाशय अनाकुलं निर्व्यग्रं यथा भवति तथा सुसंवेद्ये स्वसम्वेदनलक्षणे स्वरूपे स्वस्वरूपे केवले केवलज्ञानस्वभावे तिष्ठ स्थिरो भव, निर्व्याकुलत्वेनैव स्वरूपे स्थिरत्वं भवति नान्यथेति भावार्थः।